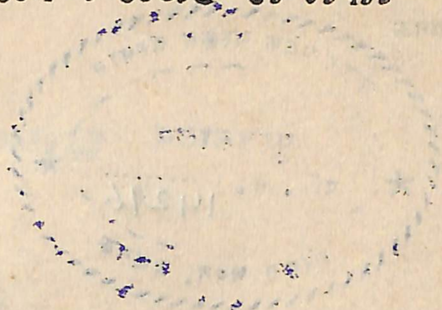
काव्यशास्त्र-संदर्भ-संग्रह-समीक्षा

व्याख्याकार एवं भूमिका लेखक
डा० राजकिशोर सिंह
एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०
शास्त्री, साहित्यशिरोमणि
आगरा कॉलेज
आगरा

प्रदीप प्रकाशन, लखनऊ

काव्यशास्त्र-संदर्भ-संग्रह-समीक्षा



व्याख्याकार एवं भूमिका लेखक

डा० राजकिशोर सिंह

एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच०डी०

शास्त्री, साहित्यशिरोमणि

आगरा कॉलेज

आगरा

प्रदीप प्रकाशन

लखनऊ

प्रकाशन :
प्रदीप प्रकाशन
लखनऊ

संस्करण : १९७०

मूल्य : ४·५०

प्रकाशन केन्द्र से प्रकाशित लेखक की कृतियाँ

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास
२. संस्कृत-निबन्ध-रत्नाकर:
३. काव्यशास्त्र के सिद्धान्त
४. संस्कृत के महाकवि
५. साहित्यिक निबन्ध
६. काव्यप्रकाशसमीक्षा

(४–६ प्रेस में)

अन्य प्रकाशित कृतियाँ

१. संस्कृत भाषा-विज्ञान
२. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति
३. वैदिक साहित्य का इतिहास
४. पालि साहित्य का इतिहास
५. बिहारी और उनकी सतसई
६. बिहारी की काव्यकला
७. लघुकाव्य प्रदीप
८. महाकाव्यामृत (सम्पादित)

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स
माईथान, आगरा–३

समर्पण

श्रद्धेया

भाभी

श्रीमती सुखेशकुमारी

को

सादर

तथा

चि० हेमन्त

को

सस्नेह

राजकिशोर सिंह

दो शब्द

लखनऊ विश्वविद्यालय में स्नातक परीक्षा में निर्धारित 'काव्यशास्त्र-संदर्भ-संग्रह" की समीक्षा अपने छात्रों के हाथों में समर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। इस समीक्षात्मक लघुकाय रचना के द्वारा मैंने विद्यार्थियों की कठिनाइयों का यथासाध्य समाधान प्रस्तुत किया है।

इसमें जहाँ एक ओर पाठ्यपुस्तक का अनुवाद है वहीं इसमें उसकी यथास्थान विस्तृत व्याख्या भी दी गई है। साथ ही तुलनात्मक रूप में अन्य विद्वानों के तत्तत् प्रसङ्गों में मन्तव्यों को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है।

विश्वास है इस तुलनात्मक दृष्टि से विद्यार्थियों का हित होगा, वे सजग दृष्टि से व्यापक अध्ययन कर ज्ञान का वर्धन करते हुए परीक्षा में अच्छी सफलता प्राप्त करेगें। लेकिन अध्ययन करने से पूर्व निम्न तथ्यों का ज्ञान परम आवश्यक है। 'काव्यशास्त्रसंदर्भ-संग्रह' में जो **मूलकारिकायें** हैं उनका **अर्थ** अनुवाद के नाम से किया गया है और उसकी विस्तृत समीक्षा **व्याख्या** के नाम से। **वृत्ति** (गद्य) का अर्थ और समीक्षा **भावार्थ** के अन्तर्गत दृष्टव्य है। ऐसा पाठकों की सुविधा व सरलता के लिए किया गया है। आवश्यकतानुसार विशिष्ट स्थलों पर **समीक्षा** या निष्कर्ष रूप में अध्ययन का सार भी दिया गया है।

पुस्तक के सुन्दर और स्वच्छ मुद्रण के लिए अजन्ता प्रिन्टर्स के अधिकारी एवं कार्यकर्त्ता धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन केन्द्र के व्यवस्थापक श्री रविशंकर मालवीय एवं पद्मधर मालवीय का पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन हेतु मैं विशेष आभारी हूँ।

आशा है पाठक-छात्रों को इस रचना से पूर्ण लाभ होगा, उनकी सफलता की कामना करते हुए।

वसन्त पंचमी २०२६
गोकुलपुरा, आगरा।

राजकिशोर सिंह

विषयानुक्रमणी

भूमिका			...१–४०
प्रथमो विन्यासः			...१–४२
१	साहित्यम्	कुन्तक	१
२	काव्यम्	भामह	५
३	काव्यस्य प्रयोजनम्	रुद्रट	८
४	काव्यस्य हेतु त्रयम्	रुद्रट-नमिसाधु	१२
५	काव्यस्यशरीरम्	दण्डी रत्नश्रीज्ञान	१६
६	काव्यस्यात्मतत्त्वम्	आनन्दवर्धन	१८
७	कविप्रतिभा सहृदयता च	राजशेखर	२०
८	काव्यशरीरस्य त्रैविध्यम्	दण्डी	२२
९	भाषाभेद निबन्धनं चतुर्विधम् काव्यशरीरम्	दण्डी	२५
१०	काव्य प्रबन्धस्यप्रकाराः	दण्डी	२८
११	काव्यस्य पाठप्रतिष्ठा	राजशेखर	३८
१२	काव्ये व्याकरणज्ञानस्योपयोगः	भामह	४१
द्वितीयो विन्यासः			४३–९२
१३	काव्य प्रबन्धेषु परस्परं संवादाः	आनन्दवर्धन	४३
१४	पद्यकाव्य प्रबन्धे वृत्तयोजना	क्षेमेन्द्र	४५
१५	पद्यकाव्यविनियुक्ता वृत्तविशेषाः	केदारभट्ट	४७
१६	गद्यकाव्यस्य रूपत्रयम्	वामन	५५
१७	मिश्रकाव्यप्रबन्धेषु नाटकमथ प्रकरणम्	विश्वनाथ धनंजय	५७
१८	काव्यप्रबन्धेषु रसविनियोगः	आन्दवर्धन	६५
१९	काव्यप्रबन्धेषु रीतयः	विश्वनाथ	६७
२०	काव्यप्रबन्धेषु गुणत्रयम्	मम्मट	७२
२१	काव्यप्रबन्धेषु शब्दालङ्कारविशेषाः	विश्वनाथ	७४
२२	काव्यप्रबन्धेष्वर्थालङ्कारविशेषाः	विश्वनाथ	७८
२३	काव्यप्रबन्धेषूभयालंकारयोगः	मम्मट	९०

भूमिका

संस्कृत में साहित्य एवं काव्य समानार्थक होने के कारण संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शब्द प्रायशः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रीति विषयक ग्रन्थों के विकास के बाद इस दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर मिलने लगता है। परिणामस्वरूप रीति एवं अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है और स्पष्ट हो जाता है अलंकार, साहित्य, काव्य आदि का स्वतन्त्र एवं भिन्न अस्तित्व भी।

भारतीय काव्य-शास्त्र जिसे 'साहित्य विद्या' या 'क्रियाकल्प' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे सदा अलंकारशास्त्र या काव्यालंकार का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप 'अलंकार' शब्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण अपना दूसरा नाम **'साहित्यशास्त्र'** प्राप्त करता है। लेकिन साहित्यशास्त्र नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हो सका, क्योंकि साहित्य एक शास्त्र विशेष न होकर ज्ञानराशि के संचित कोश का नाम है अथवा अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारों का समन्वित रूप है। काव्यशास्त्र के उदयकाल में काव्य के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यालंकार' भी रहा है। इसीलिए प्रारंभिक समग्र काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों के नाम 'काव्यालंकार' रखे जाते थे। जैसे भामह का कारिकात्मक ग्रन्थ 'काव्यालंकार', वामन का 'काव्यालंकार सूत्र'। किन्तु काव्य-सौन्दर्य के परीक्षा करने वाले इन ग्रन्थों में केवल अलंकारों का ही विवेचन नहीं था, अलंकारों के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, रस, काव्यलक्षण, काव्य प्रयोजन आदि सभी इन ग्रन्थों के विषय थे। इसलिए काव्य विषयक आलोचनात्मक इन ग्रन्थों को काव्यशास्त्र नाम प्रदान किया गया जो कहीं अधिक समीचीन एवं वैज्ञानिक है। "संस्कृत साहित्य के काव्य या कविता से अंग की विधि-व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण, करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उसमें हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है। वस्तुतः काव्य की विविध पद्धतियों की समालोचना, समीक्षा और उसके मूल स्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।"[१]

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र : **'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'**, पृ० ४-५।

पाश्चात्य आलोचना साहित्य में काव्य-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। वे भावाभिव्यंजन की पद्धति पर विचार-विमर्श करने वाले शास्त्र को शैली शास्त्र (Stylistics) के नाम से अभिहित करते हैं तथा साहित्य के गद्य-पद्य भेद के आधार पर गद्य शैली के प्रतिपादक शास्त्र को अलंकार-शास्त्र (Rhetoric) तथा पद्य शैली का विचार करने वाले शास्त्र को काव्य-शास्त्र (Poetics) नाम से पुकारते हैं।[१]

काव्य-शास्त्र की प्राचीन परम्परा—मानव ने जिस दिन से कविरूप प्राप्त किया उसी दिन से वह भावुक आलोचक भी बन बैठा, क्योंकि प्रतिभा दो प्रकार की होती है एक कारयित्री दूसरी भावयित्री।[२] कवि स्वयं भी अपनी कविता का पर्यालोचन करता है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और तो और भावुक आलोचक भी कविता का पूर्ण रसास्वादन कविरूप में बैठकर ही कर पाता है। इस प्रकार से कवि एवं भावुक की स्थिति समान है। वैदिक ऋषि ही हमारे प्रथम कवि हैं और वे ही प्रथम भावुक आलोचक भी। वैदिक ऋषि ने ही उस काव्य-वाणी के सौन्दर्य का अनुसन्धान किया था जो कि सहृदय पाठक के सम्मुख अपने सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है। वह असहृदय व्यक्ति के हाथों में अपने को समर्पित नहीं करती क्योंकि असहृदय व्यक्ति उसे देखते हुए भी अन्धा बना रहता है, सुनते हुए भी बहरा रहता है।[3] इस प्रकार वैदिक ऋषि ने स्वयं ही काव्यालोचन का प्रारम्भ कर दिया था, वह स्वयं ही सर्वप्रथम काव्यास्वाद करने वाला बनता है। यहीं से काव्यालोचन का प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वैदिक अन्यान्य मन्त्रों में उपमा,[४] अतिशयोक्ति,[५] व्यतिरेक,[६] श्लेष[७] और रूपक[८] आदि अलंकारों के दर्शन होते हैं।

---

१ जी० एम० गेले : **'मेथड्स एण्ड मैटिरियल्स फार लिटरेरी क्रिटिसिज्म'** पृ० २४५-२४७।

२ सा च प्रतिभा द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री—भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री—कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति, भावकश्च कविः इत्याचार्याः।

[राजशेखर : **काव्यमीमांसा**, पृ० २९, ३१, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद]

३ उतत्त्वः पश्यन्न ददर्शवाचमुतत्त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तत्त्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।

४ **ऋग्वेद**, १।१२४।७, १०।७१।४, ५।८०।५।

५ **ऋग्वेद**, १।१६४।२०, ४।५८।३।

६ **ऋग्वेद**, १।१६४।११।

७ **ऋग्वेद**, १०।६९।१०।

८ **ऋग्वेद**, ३।५४।१३, ५।४१।११।

उपनिषद् साहित्य में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार के संकेत विभिन्न मन्त्रों में मिल जाते हैं ।[१] अलंकारों के अतिरिक्त रस एवं छन्द विषयक वैदिक ऋषियों की जानकारी का भी पता चलता है । दाशराज्ञ सूक्त में युद्ध का सुन्दरतम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जहाँ हमें इन्द्रस्तुति प्रसंग में वीर रस[२] के दर्शन हो जाते हैं । इसी प्रकार विभिन्न ऋग्वैदिक सूक्तों में श्रृंगार रस की मधुर अभिव्यक्ति भी मिलती है । पुरुखा-उर्वशी सम्वाद विप्रलम्भ श्रृंगार का[३] मनोमोहक रूप है । यम-यमी सम्वाद भी कुछ इसी प्रकार का है । अक्ष सूक्त में जुआरी का करुण विलाप करुण रस की ओर संकेत करता है तो हास्य रस का भी उस सूक्त में अभाव नहीं है । समग्र ऋग्वेद छन्दोबद्ध है । इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वैदिक कविता के साथ-साथ वैदिक कवि की दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों की ओर भी रही थी ।

वेदों के उपरान्त यास्क का निरुक्त कुछ स्पष्ट रूप में हमें काव्य-शास्त्र विषयक संकेत प्रदान करता है । यास्क ने निरुक्त में उपमा अलंकार का संकेत भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा, आदि के नाम से किया है ।[४] यही नहीं उसने तो उपमा अलंकार का लक्षण किसी पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक आचार्य के नाम से उद्धृत भी किया है ।[५] इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि यास्क (७०० ई० पू०) से पूर्व भी काव्यशास्त्र विषयक मान्यतायें स्थापित की जा रही थीं । कुछ मान्यतायें स्थापित की जा चुकी थीं, जिनका संकेत विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है । सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्य-कल्पद्रुम' ग्रन्थ के 'यथासंख्यालंकार' प्रकरण में भागुरी का एक काव्य-शास्त्र विषयक मत उद्धृत किया है ।[६] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में भागुरी का एक रस विषयक मन्तव्य दिया है ।[७]·········यह भागुरी वैयाकरण भागुरी ही था जिसकी गणना वायु, भारद्वाज, चाणक्य आदि पुरातन महर्षियों[८] की कोटि में की गई है ।[९] वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी में उपमा शब्द का परिभाषिक प्रयोग करने के साथ-साथ उपमित, उपमान

---

१ **कठोपनिषद्**, १।३।३, **श्वेताश्वतरोपनिषद** ४।५ ।

२ **ऋग्वेद**, १।१५१।६, २।१।९ ।

३ **ऋग्वेद**, १०।९५।३, १०।१०।७ ।

४ **यास्क निरुक्त**, ३।१३।१८ ।

५ अथात उपमा यद्, अतद् तत् सदृशमिति गार्ग्यः । (**निरुक्त** ३।१३)

६ **'साहित्य कल्पद्रुमः'** राजकीय पुस्तकालय मद्रास का हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, भाग १, खण्ड १, पृ० २८९५, ग्रन्थांक २१२६ ।

७ **ध्वन्यालोकलोचन**, तृतीय उद्योत, पृ० ३८६ ।

८ मीमांसक : **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**, पृ० ७० ।

९ वाचस्पति गेरोला : **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० ९४१-४२ ।

एवं सामान्य[१] आदि धर्मों का भी संकेत किया है। रामायण, महाभारत, कालिदास, भास आदि के ग्रन्थों में भी काव्य-शास्त्र विषयक अनेक तथ्यों की सत्ता मिलती है। द्वितीय शतक के जूनागढ़ स्थित रुद्रदामन के शिलालेख में काव्य-शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[२]

काव्य-शास्त्र की उपलब्ध परम्परा की सर्वाङ्गपूर्ण निश्चित सूचनायें हमें इस काल तक के किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती हैं। उपर्युक्त प्रसङ्गों के आधार पर हम अनुमान यह अवश्य ही कर सकते हैं कि काव्यशास्त्र का उदय अवश्य ही हो चुका था। राजशेखर ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध नटराज शंकर से जोड़ा है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र पर रचित योगमाला ग्रन्थ को भगवान् शंकर से सम्बद्ध कर 'योगमाला' के द्वारा भगवान शंकर ने विवस्वान् को ताण्डव, लास्य, नृत्त और नर्त्तन का उपदेश दिया था, ऐसा संकेत किया है।[3] राजशेखर के अनुसार शंकर ने ब्रह्मा को सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश किया था तथा ब्रह्मा ने अपने मानसजात अठारह शिष्यों को यह ज्ञान प्रदान किया। उन अठारह शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग पर एक-एक ग्रन्थ लिखा है।[४] इन दोनों ही आचार्यों द्वारा प्रदत्त नामावली में बहुत से नाम तथा उनकी सत्ता प्रामाणिक नहीं है। किन्तु 'भावप्रकाशन' में नारदमुनि का नाम आया है और आज बड़ौदा से प्रकाशित 'नारदसंगीत' नामक ग्रन्थ संभवतः उन्हीं का है। इसी प्रकार राजशेखर द्वारा प्रदत्त नामावली मात्र कवि की कल्पना ही नहीं है।[५] क्योंकि इस सूची में भरत तथा नन्दिकेश्वर के भी नाम

---

१ तुल्यार्थैरतुल्योपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। [पा० सू० २।३।६२]
उपमानानि सामान्य वचनैः। [पा० सू० २-१-५५।]
उपमितं व्याघ्रादिभिसामान्यप्रयोगे। [पा० सू० २।१।५६।]

२ "स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृत गद्य पद्य।"
(रुद्रदामन शिलालेख)

३ भावप्रकाशन, द्वितीय अधिकरण, पृ० ४५।

४ तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमोयमकानि, चित्रंचित्राङ्गदः शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति।
[काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, अ १, पृ० १।]

५ एस० के० डे : 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स', प्रथम भाग।

हैं, जिनके ग्रन्थ आज प्राप्त एवं प्रकाशित भी हैं, फिर अन्य नामों के ऊपर अविश्वास करना तर्कसंगत नहीं है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी सुवर्णनाभ, कुचमार आदि राजशेखर द्वारा संकेतित आचार्यों के नाम मिलते हैं।[1] इन नामों की पुष्टि वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी होती है।[2] भरत ने स्वयं भी अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में कोहल, वास्त्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक आचार्यों का उल्लेख किया है।[3]

अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनवभारती में एक स्थान पर लिखा है कि नाट्यशास्त्र की कुछ आर्यायें पूर्वाचार्यों की हैं जिन्हें भरत ने अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिया है।[4] इसी प्रकार के कुछ अन्य तुम्बरु, चारायण, सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणी, व्यास, आजमेय, कात्यायन, राहुल, शक्तिगर्भ, घण्टक आदि आचार्यों के नामोल्लेख भावप्रकाशन, नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इन सभी प्राप्त नामों के आधार पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भले ही ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इनकी सत्ता के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं।[5]

वैदिक काल से लेकर ई० पू० (५०० वर्ष) पाणिनि मुनि के काल तक काव्य-शास्त्र विषयक पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन हुआ है; इसके संकेत मिलते हैं। किन्तु प्रामाणिक शास्त्रीय निरूपण हमें भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा इन्हीं के समसामयिक नन्दिकेश्वर के 'अभिनवदर्पण' में मिलता है। कुछ समय पूर्व भरत एवं नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त थे, किन्तु **अभिनव दर्पण**[6] नामक ग्रन्थ के प्रकाशित होने के उपरान्त यह धारा पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी है। अब यह प्रायः निश्चित मत है कि नन्दिकेश्वर एवं भरत दोनों का भिन्न व्यक्तित्व है। भरत के स्वयं विभिन्न उद्धरणों से यह भी प्रायः निश्चित है कि नन्दिकेश्वर भरत से पूर्व हुए थे।

---

१ **नाट्यशास्त्र**, ६।१३०, ६।१४४, ६।१६६।

२ **कामसूत्र**, १।१।१३, १।१।१७।

३ कोहलादिभिरेतैर्वा वास्त्यं शाण्डिल्य धूर्तिलः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥

४ ता एता ह्यार्या एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥
[**अभिनव भारती**, अध्याय ६]

५ एस० के० डे : '**स्टडी इन दी हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स**,' इन्ट्रोडक्शन, पृ० २१; पी० बी० काणे : '**संस्कृत दर्पण**', इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३६।

६ **मनमोहन घोष** द्वारा सम्पादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित।

काव्यमीमांसा में प्राप्त 'रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर'[१] से पता चलता है कि नन्दिकेश्वर रस विषय के प्रथम आचार्य थे। कामशास्त्र[२] व संगीत शास्त्र[3] में उनके आचार्यत्व की घोषणा की गई है। नन्दिकेश्वर के नाम से 'योगतारावली', 'नन्दिकेश्वर तिलक', 'प्रभाकर विजय', 'लिङ्गधारण चन्द्रिका' आदि परस्पर विरोधी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। किन्तु इन सभी पुस्तकों का रचयिता एक ही नन्दिकेश्वर रहा होगा इसमें सन्देह है। मद्रास की खोज रिपोर्ट में नन्दिकेश्वर के नाम से 'ताललक्षण' तथा 'तालादिलक्षण' ग्रन्थों की चर्चा हुई है।[४] इसी आधार पर मनमोहन घोष ने संगीत को उनका प्रिय विषय माना है। इनके व्यक्तित्व के विषय में विभिन्न मत हैं। इन्हें कुछ विद्वान तन्त्र, पूर्वमीमांसा, लिङ्गायत, शैव आदि सिद्धान्तों का अनुयायी मानते हैं तो कोई इन्हें शिव[५] का अवतार मानते हैं और दक्षिण में इनकी पूजा का विधान है, इसका संकेत करते हुए इन्हें दक्षिणात्य भी सिद्ध करते हैं। भाव प्रकाशन में शिव की आज्ञा से ये भरत तथा उनके पाँच शिष्यों को नाट्यवेद की शिक्षा देते हैं।[६] भरत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा अथवा प्रेरणा नन्दिकेश्वर से प्राप्त हुई थी। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है कि तण्डु दूसरा नाम नन्दिकेश्वर ने अंगहारों, करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी। अभिनव भारती में भी नन्दिन और भरत को तण्डु और मुनि इन दूसरे नामों से संकेतित किया गया है। रामकृष्ण कवि ने भी दोनों को एक मानकर 'नन्दीश्वर संहिता' उनकी रचना स्वीकार की है जो कि आज 'अभिनव दर्पण' के रूप में प्राप्त है। 'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनव दर्पण' की विषय सामग्री का तुलनात्मक विवेचन करने पर वाचस्पति गैरोला ने 'अभिनव दर्पण' को प्राचीन रचना माना है।[७]

भरत (२०० ई० पू०)

नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में भरतमुनि का संस्कृत के साहित्याकाश में अद्वितीय स्थान है। नाट्यशास्त्र' अपने विषय का सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। वास्तव में यह नाट्यशास्त्रीय तत्वों का एक अमर विश्वकोष है। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, अभिनय के रूप, नाट्य-संधियों और वृत्तियों आदि का निरूपण विशेष महत्वपूर्ण है।

---

१ **काव्य मीमांसा**, काव्य रहस्य प्रकरण, पृ० १, वि० रा० भा० परिषद पटना।

२ बलदेव उपाध्याय : **साहित्यशास्त्र**, भाग १, पृ० १३।

३ **संगीत रत्नाकर**, पृ० ५–६, श्लोक १६–१७।

४ **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, गैरोला, पृ० ६४६।

५ **सौन्दर्य लहरी परिचय**, पृ० १०, सम्पादक, शास्त्री, आयंगर।

६ **भावप्रकाशन**, दशम अधिकरण, पृ० २८५–२८७।

७ गैरोला : '**संस्कृत साहित्य का इतिहास**', पृ० ६४७।

नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं। इसके छठे तथा सत्रहवें अध्याय में अलंकार, रस, छन्द, दशरूपक, वृत्तियों आदि पर भी सूक्ष्म किन्तु मौलिक विवेचन मिलता है। इस विषय-विवेचन का यदि गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करें तो हमें ग्रन्थकार की विद्वत्ता एवं ग्रन्थ की व्यापकता का पता चलता है और यह पता चलता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा भरत से भी प्राचीन है।

भरत रसवाद के समर्थक एवं प्रतिपादक आचार्य हैं, उनका 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' रस के स्वरूप एवं रसनिष्पत्ति का प्रतिपादक सूत्र सर्वप्रसिद्ध है। रस विषयक प्रभूत सामग्री नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में विद्यमान है।

भरत के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की अपनी-अपनी विभिन्न धारणायें हैं। कुछ विद्वान् इन्हें अति आधुनिक सिद्ध करना चाहते हैं तो दूसरी ओर प्राचीनतावादी उन्हें अतिप्राचीन। किन्तु एक मत उन्हें काल्पनिक भी सिद्ध करता है। इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि नाटक के नट का नाम ही भरत है। "नाट्यविधान के जो तत्व समय-समय पर निर्मित होते गये, उनका संग्रह भरत (नाटकीय-नट) के नाम पर किया गया।" इन संग्रहकारों में कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य आदि का नाम भी लिया जाता है और भरत का भी। संग्रहकाल द्वितीय शती ई० पू० से लेकर तृतीय शती ई० पू० के मध्य माना जा सकता है।

'काव्यप्रकाशादर्श' के रचयिता की दृष्टि से भरत का नाट्यशास्त्र 'अग्निपुराण' के बाद की रचना है किन्तु अग्निपुराण में भरतमुनि एवं उनके नाट्यशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख "भरतेन प्रणीतत्वात्" आदि के रूप में मिलता है। अतः हम अग्निपुराणकार को भरत परवर्ती मानते हैं और भरत का समय ई० पू० २०० है।

अग्निपुराणकारः

अग्निपुराण काव्यशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से एक समृद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय विभिन्न तत्वों का व्यापक विवेचन मिलता है। उदाहरण के रूप में हम काव्य का स्वरूप, रस, गुण, अलंकार और दोष आदि इसके विवेच्य तत्वों को ले सकते हैं।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल विवादास्पद है। डा० एस० के० डे इसे नवम शतक तथा पी० वी० काणे ध्वन्यालोक परवर्त्ती कृति मानते हैं। आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने इस पुराण का अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ ने अग्निपुराण का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥ इति

इस प्रकार यह रचना परवर्त्ती सिद्ध होती है। किन्तु अग्निपुराण में प्राप्त अलंकारों की संख्या के आधार पर उसे पूर्ववर्त्ती रचना सिद्ध किया जाता है। अग्निपुराण में पन्द्रह अलंकारों के लक्षणादि देखने से पता चलता है कि अलंकारों के क्रमिक विकास की दृष्टि से यह रचना नाट्यशास्त्र परवर्त्ती है। क्योंकि नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण में क्रमशः चार और पन्द्रह अलंकार हैं। भामह तथा दण्डी के ग्रन्थों में क्रमशः तेईस और अड़तीस अलंकार हैं जो कि क्रमिक विकास के सूचक हैं। अलंकारों के क्रमिक विकास के आधार पर इसे भामह तथा दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध किया जा सकता है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार अग्निपुराण का रचना-काल द्वितीय और तृतीय शती के लगभग मानते हैं अन्य विद्वान् षष्ठ शतक।

भामहः

काव्यशास्त्र की परम्परा का विकास समुचित रूप से भामह से प्रारम्भ होता है। 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में काव्यशास्त्र विषयक पूर्ण परिपक्व सिद्धान्त मिलते हैं। भामह ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अभाव में हम भामह को ही काव्य एवं नाट्य को अलग-अलग विकसित करने का श्रेय प्रदान करते हैं।

भामह के समय के सम्बन्ध में भी विवाद है। कुछ विद्वान् भामह को दण्डी परवर्त्ती सिद्ध करते हैं। सबसे पहले एम० टी० नरसिंह आयङ्गर ने सन् १९०५ में 'जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ० ३५५) में इस प्रश्न की चर्चा की और दण्डी को भामह का पूर्ववर्त्ती सिद्ध करने का यत्न किया। किन्तु इस मत का घोर विरोध हुआ। डा० त्रिवेदी ने 'प्रताप-रुद्र-यशोभूषण' की भूमिका में, प्रो० रङ्गाचार्य ने 'काव्यादर्श' की भूमिका में, गणपति शास्त्री ने 'स्वप्नवासवदत्ता' की भूमिका में, और प्रो० पाठक ने 'कविराजमार्ग' की भूमिका में दण्डी को भामह से पूर्ववर्त्ती ठहराने वाले नरसिंह आयङ्गर के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया।[1] अब अधिकांश विद्वान् भामह को दण्डी से पूर्ववर्त्ती मानते हैं। श्री पोद्दार ने अनेक ग्रन्थों के विवेचन के पश्चात् भामह की उत्तरवर्त्ती सीमा ६०० ई० निश्चित की है, यही मत बलदेव उपाध्याय तथा डा० नगेन्द्र का भी है।[2]

भामह परम्परा के अनुसार काश्मीर निवासी थे और उनके पिता का नाम रक्रिलगोमिन था। शेष उनके विषयों में सब विवादास्पद हैं।

---

१ आचार्य विश्वेश्वर : **काव्यप्रकाश की भूमिका**, पृ० ३०–३१

२ बलदेव उपाध्याय : **भारतीय साहित्यशास्त्र**, खण्ड १, पृ० ४२–४३
डा० नगेन्द्र : **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा**, पृ० ३४।

भामह अलंकारवादी आचार्य हैं। उनके मत में समस्त अलंकारों की मूल वक्रोक्ति है। भामह ने ही सर्वप्रथम काव्य-लक्षण लिखा था। भामह गुण तीन मानते हैं।

भामह का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। इस ग्रन्थ को उद्‌भट, आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने प्रमाणस्वरूप उद्‌धृत कर मान्यता प्रदान की है। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद तथा ४०० श्लोक या कारिकायें हैं, जिनमें काव्य-प्रशंसा, काव्यसाधन, काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष, अलंकार, गुण तथा शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षा का उल्लेख किया गया है। उद्‌भट ने इस पर 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी है। जो कि उस युग में भामह के ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा महत्व की सूचना देती है।

काव्यालंकार भामह की सर्वसम्मत तथा निर्विवाद रचना है। इसके अतिरिक्त भामह की अन्य रचनाओं में वररुचि के प्राकृतप्रकाश की 'मनोरमा' नामक टीका भी है। यह 'प्राकृत प्रकाश' की वृत्ति में निर्दिष्ट निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

वररुचि रचित प्राकृतलक्षण सूत्रानि लक्ष्यमार्गेण।
बुद्‌ध्वा चकार वृत्तिं संक्षिप्तां भामह स्पष्टाम्॥

भामह ने 'प्राकृत-प्रकाश' की टीका लिखी थी, इसे पिशेल ने भी स्वीकार किया है।

नारायणभट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर' की व्याख्या में नारायणभट्ट के '**तदुक्तं भामहेन**' आदि वाक्यों से सम्भावना की जाती है कि उनका छन्द-विषयक कोई ग्रन्थ रहा होगा।

इसी प्रकार राघवभट्ट कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल की 'अर्थद्योतनिका' टीका में भामह के नाम से दो उद्धरण मिलते हैं, जिनमें से एक छन्द तथा दूसरा अलंकार विषयक है। अतः यह अनुमान सहज ही होता है कि उनकी कोई एक छन्द विषयक कृति रही होगी। साथ ही काव्याशास्त्रीय कोई एक दूसरी रचना भी रही होगी, क्योंकि अलंकार विषयक उद्धरण, 'काव्यालंकार' में प्राप्त नहीं है।

किन्तु ये समस्त रचनायें केवल अनुमानाश्रित हैं। अतः इनकी प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं है, साथ ही ये रचनायें आज प्राप्त भी नहीं हैं।

दण्डी:

काव्यशास्त्र की परम्परा में दण्डी का उल्लेखनीय स्थान है। दण्डी का 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का अनुपम तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें मिलती हैं। इस ग्रन्थ में काव्य की परिभाषा, काव्य के भेद, काव्य के हेतु, महाकाव्य का स्वरूप, गद्यकाव्य के भेद, कथा-आख्यायिका, मिश्रकाव्य आदि पर विचार करने के साथ-साथ अलंकार, चित्र-काव्य, प्रहेलिका, दोष आदि पर विचार किया गया है।

'काव्यादर्श' के अतिरिक्त दण्डी की दो-तीन अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है—एक '**दशकुमारचरित**', दूसरी '**अवन्ति-सुन्दरी कथा**'। ये दोनों ही ग्रन्थ कथाकाव्य हैं और तीसरी रचना '**छन्दोविचिति**' है। इसका उल्लेख सुबन्धु ने अनेकशः किया है। दण्डी के काव्यादर्श में भी इसका उल्लेख इस प्रकार है—

छन्दो विचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चः प्रदर्शितः। [काव्यादर्श १।१२]

इसी प्रकार—

"**छन्दोविचितिरिव कुसुमविचित्रा। छन्दोविचितिरिव मालती सनाथा**"

(सुबन्धु)

किन्तु परम्परा से केवल तीन ग्रन्थ ही दन्डी के मान्य हैं—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकषु विश्रुताः॥

इस राजशेखर (पीटर्सन के अनुसार) के श्लोक से उनकी तीन ही रचनायें मान्य हैं। 'छन्दोविचिति' की गणना होने पर उनकी चार कृतियाँ सिद्ध होती हैं। इस विषय में हम श्री रामचन्द्र मिश्र के इस कथन से सहमत हैं कि—

"यह स्वतन्त्र ग्रन्थ बना था या नहीं, यह किसी तरह सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त छन्दोविचिति शब्द पिङ्गल का छन्दः सूत्र परक भी हो सकता है। '**तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति**' इस उल्लेख के आधार पर कलापरिच्छेद नामक ग्रन्थ की कल्पना भी इसी तरह है। [काव्यादर्श भूमिका, पृ० १६]

दण्डी का समय सप्तम शतक के अन्त में निश्चित होता है। दण्डी ने स्वयं अपने को 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' में महाकवि भारवि का प्रपौत्र निर्दिष्ट किया है। बाण तथा मयूर कवि की प्रशंसा भी की है। इसलिए उनका समय सप्तम शतक में राजा हर्षवर्धन (६०६–६४८) की सभा के प्रसिद्धि-प्राप्त कवि बाणभट्ट के बाद का है। मैक्समूलर, बेवर, मैकडानल, जेकब आदि विद्वान् दण्डी का समय षष्ठ शतक मानते हैं किन्तु भारतीय परम्परा में प्राप्त आधारों से दण्डी का समय अष्टम शतक से पूर्ववर्त्ती तथा षष्ठशतक के बाद का निश्चित होता है।

काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य तथा उसके प्रयोजन, हेतु, लक्षण, काव्य-भेद, महाकाव्य का स्वरूप, रीति और गुणों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार का स्वरूप तथा उद्देश्य का विवेचन कर विभिन्न अलंकारों के लक्षण आदि का विवेचन है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध तथा प्रहेलिका आदि का विवेचन किया गया है।

दण्डी अलंकारवादी आचार्य हैं—"**काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**" यह उनका सिद्धान्त वाक्य है। दण्डी काव्य के विभिन्न तत्वों को अलंकार में ही आत्मसात् करना चाहते हैं। यहाँ तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने

रसवदादि अलंकार माना है। ये अनेक रीतियों के अस्तित्व को मानते हुए भी वैदर्भी एवं गौडी को विशेष महत्व देते हैं फिर भी वैदर्भमार्ग इन्हें अधिक प्रिय था—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥

[काव्यादर्श १।४०]

तथा—

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृता ।

[काव्यादर्श १।४२]

यदि दण्डी के अलङ्कारों के लक्षण भामह से प्रभावित हैं तो गुण और दोषों के विवेचन पर भरत का प्रभाव है।

उद्भटः—

"**अलङ्कार एव काव्ये प्रधानम्**" की स्थापना करने वाले उद्भट की अनेक स्थापनाओं को आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। उद्भट का 'काव्यालङ्कारसार-संग्रह" ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। इसमें ७९ कारिकाएँ हैं तथा ४१ अलंकार छः वर्गों में विभक्त हैं। उद्भट के अन्य दो ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं, उनके नाम हैं—भामह विवरण तथा कुमारसम्भव। भरतनाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं में भी इनका नाम परिगणित होता है—

व्याख्यातारो भारतीयेलोल्लटोद्भटशंकुकाः ।
महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥

उद्भट ने अलंकार के विवेचन में भामह की मान्यताओं को स्वीकार किया है और तदनुरूप लक्षण भी लिखे हैं। कुछ नवीन अलंकारों का भी उल्लेख किया है तथा कुछ भामह के अलंकारों को अस्वीकार कर दिया है। उद्भट दण्डी की तरह अलंकारवादी आचार्य हैं अतः रस, भाव आदि को रसवद् अलंकारों में अन्तर्निहित करते हैं। रसवदादि अलंकारों को व्यवस्थित रूप उद्भट ने ही दिया है। इसी प्रकार मम्मट प्रतिपादित उपनागरिका आदि वृत्तियों का प्रारम्भिक निरूपण उद्भट ने ही किया था।

उद्भट के 'काव्यालंकार सार संग्रह' पर दो टीकायें प्राप्त हैं—जिनके लेखक व नाम निम्न हैं—राजानक तिलक कृत 'उद्भट विवेक' तथा प्रतिहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति।

उद्भट काश्मीरी विद्वान् हैं। ये राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। जैसा कि कल्हण की राजतरंगिणी के इस श्लोक से स्पष्ट हैं—

विद्वान् दीनार लक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ।

राजा जयापीड़ या जयपाल का समय ७७९ से ८१३ ई० माना जाता है; अतः उद्भट का यही समय स्वीकार्य है।

वामन :—

आचार्य वामन काव्यशास्त्र की परम्परा में रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उनका 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'राजतरंगिणी' में काश्मीरी राजा जयदित्य या जयापीड़ का इन्हें मन्त्री कहा गया है।[1] इसी के आधार पर इनका समय नवमशतक का प्रारम्भ माना जा सकता है। डा० बूलर[2], श्री पोद्दार[3], डा० नगेन्द्र[4] आदि विद्वान् इनका यही समय मानते हैं।

वामन का ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है, प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं; जिसके सूत्रों की संख्या ३१९ है। वामन ने अपने सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, काव्य के भेद तथा विभिन्न काव्य के प्रकारों का वर्णन है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे अधिकरण में क्रमशः दोष, गुण तथा अलंकारों का विवेचन है। छठे अधिकरण में शब्द-शुद्धि पर विचार किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के सभी प्रमुख विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन है।

वामन ने अपनी वृत्ति का नाम 'कविप्रिया' रखा है—

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामिनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कार सूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

इस प्रकार सूत्रों की वृत्ति वामनकृत ही है। इस तथ्य को अभिनव गुप्त आदि भी स्वीकार करते हैं।

वामन रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये रीति को—"**रीतिरात्मा काव्यस्य**" काव्य की आत्मा का पद प्रदान करते हैं तथा गुणों को ये रीति आश्रित मानते हैं। तदनुसार "गुण काव्य के नित्य अंग हैं और अलंकार अनित्य। वामन रस को कान्ति नामक गुण में समाविष्ट कर उसे कान्ति नामक गुण ही कहते हैं— '**दीप्तिरसत्वं कान्तिः**"। वामन ने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानकर उसे अर्थालङ्कार माना है। वामन ने ही सर्वप्रथम गुणों का स्पष्ट एवं वैज्ञानिक अध्ययन किया है किन्तु वे गुणों की संख्या बीस (दश शब्द तथा दश अर्थ गुण) मानते हैं।

वामन के जीवन के विषय में कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं है। 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के अध्ययन से उनकी विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का ज्ञान

---

१ बूलर की **काश्मीर रिपोर्ट**, पृ० ६५।
२ वही, पृ० ६५।
३ पोद्दार : **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० १५२।
४ डा० नगेन्द्र : **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, पृ० ६६।

अवश्य होता है। वे काव्य, काव्यशास्त्र, दण्डनीति और व्याकरण आदि के विद्वान् थे। अपनी विद्वत्ता के आधार पर ही उन्होंने इस महान् मौलिक ग्रन्थ का सृजन किया है। वामन के टीकाकार काश्मीरी विद्वान् सहदेव ने इस ग्रन्थरत्न का उद्धार किया था, अन्यथा यह कभी का काल कवलित हो गया होता। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र, भट्टगोपाल तथा महेश्वर आदि भी इस ग्रन्थ के टीकाकार हैं।

रुद्रट :

काव्यशास्त्र की परम्परा में अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य के रूप में रुद्रट को मान्यता प्राप्त है। इनका दूसरा नाम शतानन्द था, किन्तु प्रसिद्धि रुद्रट के नाम से ही हुई है। ये काश्मीरी थे; इनके पिता का नाम वामुक भट्ट था।

शतानन्द पराख्येन भट्टवामुकसुनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं समाजाधीमता हितम्॥

[**काव्यलङ्कार**, ५।१२-१४ की टीका]

रुद्रट एवं रुद्रभट्ट में अन्तर न कर सकने के कारण बूलर, पिशेल तथा बेवर आदि विद्वान् इन्हें एकादश शतक का मानते हैं। किन्तु इनका समय नवम शतक है। कीथ ने भी इनका काल नौवीं शताब्दी के मध्य में ही स्वीकार किया है।

रुद्रट का प्राप्त ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। यह सोलह अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ७१४ आर्या छन्दों में लिखा गया है। सोलह में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक रूप में विवेचन किया गया है। काव्यशास्त्रीय अन्य सभी विषयों—काव्य का स्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका भेद पर भी इस ग्रन्थ के अन्य अध्यायों में विवेचन मिलता है।

रुद्रट को अलंकारवादी माना जाता है किन्तु रुद्रट रस के महत्व को भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। इसीलिए इनके ग्रन्थ में रस का भी व्यवस्थित निरूपण मिलता है। नायक-नायिका भेद के निरूपण की दृष्टि से भी इनका ग्रन्थ उल्लेखनीय महत्व रखता है। स्वकीया, परकीया और सामान्या नामक नायिका के तीनों भेदों की सर्वप्रथम चर्चा रुद्रट ने ही की थी। इसी प्रकार प्रेयान् रस की चर्चा और अलंकारों का वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष नामक वर्गीकरण संस्कृत काव्यशास्त्र को रुद्रट की ही देन है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में रुद्रट का एक विशिष्ट स्थान है।

आनन्दवर्धन :—

काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभा-पण्डित थे, अतः इनका समय नवम शतक का मध्यभाग है। जैसाकि राजतरंगिणी में लिखा है कि आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्य में प्रसिद्ध कवियों में से एक थे—

मुक्ताकरणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अवन्तिवर्मा का समय ८५५ ई० से ८८३ ई० तक माना जाता है। अतः यही समय आनन्दवर्धन का भी माना जा सकता है।[1]

दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने उद्भट (८०० ई० के पश्चात्) के मत को उद्धृत किया है तथा राजशेखर (६०० ई० से पूर्व) ने आन्दवर्धन के मत का उल्लेख किया है। अतः इन दोनों विद्वानों के मध्य में इनका समय होना चाहिए।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त के जन्मदाता तया काव्यशास्त्र की परम्परा में युगान्तर उपस्थित कर देने वालों में हैं। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त ने अलंकार, रीति आदि सिद्धान्तों के साथ-साथ रस सिद्धान्त को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता को रसवादी राजशेखर, विश्वनाथ, पण्डितराज[2] तक ने स्वीकार किया है। यही नहीं, काश्मीरी पंडित परम्परा में भी उनका सम्मानास्पद स्थान है। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, अतः काव्यशास्त्री होने के साथ-साथ ये कवि और दार्शनिक भी थे, जो कि इनकी कृतियों से स्पष्ट है।

आनन्दवर्धनाचार्य के 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित', 'देवीशतक', 'तत्त्वालोक' तथा विशेषतः 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ में काव्य के आत्मतत्व के रूप में ध्वनि का प्रतिपादन किया गया है।

'ध्वन्यालोक' में चार उद्योत हैं, जो एक सौ उन्तीस कारिकाओं में विभक्त हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना की गई है। द्वितीय में ध्वनि के भेदों का परिगणन करने के साथ रसवदादि अलंकारों तथा माधुर्य आदि गुणों की भी व्याख्या की गई है। तृतीय में पदवाक्य-व्यंजकता, संघटना, औचित्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य, काव्यालंकार आदि का विवेचन है तथा अभिधा-लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थापना क्यों की है, इसका विवेचन भी इसी उद्योत में है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि का महत्व प्रतिपादित किया गया है। यह ग्रन्थ मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन तथा विषय गाम्भीर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। यह कृति काव्यशास्त्र के इतिहास में युग प्रवर्त्तन का कार्य करती है। जैसे व्याकरण में पाणिनी सूत्रों का अथवा वेदान्त सूत्रों का स्थान है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' का स्थान है। आनन्दवर्धन के महत्व का प्रतिपादन करते हुए डा० नगेन्द्र ने 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा'[3]

---

१ कीथ : **संस्कृत साहित्य का इतिहास।**
पोद्दार : ,, ,, ,, भाग १, पृ० ६६।
डा० नगेन्द्र : **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा,** पृ० १०२।

२ ध्वनिनातिगम्भीरेण काव्य तत्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।

३ **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा,** परिशिष्ट, पृ० ५२०।

में लिखा है कि "इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रस-ध्वनि के प्रति अन्य ध्वनिभेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। इस रस ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्यशास्त्रीय विधान को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। अब अलंकार बाह्य आभूषण मात्र रह गये। गुणरीति के विशिष्ट धर्म न होकर रस के ही नित्य धर्म बन गये। रीति संघटनामात्र तथा रसोपकर्त्री बन गई। दोषों का अनौचित्य तथा उसकी नित्यानित्य व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गई। निष्कर्ष यह कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे मन्द पड़ गए। इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण आलोचकों ने काव्यशास्त्र के आचार्यों के बीच विभाजन-रेखा खींचकर उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—पूर्व ध्वनि-कालीन आचार्य और उत्तर ध्वनि-कालीन आचार्य।"

ध्वन्यालोक के व्याख्याकारों में अभिनव गुप्त का स्थान सर्वातिशायी है।

राजशेखर :

काव्यशास्त्र की परम्परा में विदर्भ निवासी राजशेखर की अनुपम देन 'काव्य-मीमांसा' ग्रन्थ है। इस कृति की रचना से पूर्व संस्कृत साहित्य में एक नाटककार के रूप में इनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। राजशेखर नाम के संस्कृत साहित्य में अनेक विद्वान हो चुके हैं। म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[१] इनके नाटकों से प्राप्त उद्धरणों से पता चलता है कि ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल उपाध्याय[२] और उसके पुत्र महीपाल के कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९२०—९४० ई० सन् तक माना जाता है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कन्नौज के वाक्पति एवं भवभूति का उल्लेख किया है तथा क्षेमेन्द्र, सोमदेव, सोड्ढल (१०४०–१०६०), अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भी इनका उल्लेख किया है। अतः राजशेखर का समय ८८०—९२० ई० सन् निर्विवाद माना जा सकता है।[3] एपीग्राफिया इंडिका के प्रथम भाग, पृ० १७१ पर भी यही समय राजशेखर का माना गया है।

राजशेखर का 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष को लेकर नहीं लिखा गया है। इस ग्रन्थ का विषय रस, गुण, अलंकार आदि न होकर कविशिक्षा है। यह ग्रन्थ कवियों के काव्य व्यवहार ज्ञान के लिए एक मात्र कोषग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा परवर्ती सभी विद्वानों ने की है। तिलकमंजरी के निर्माता महाकवि

---

१ **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** (१९८७ वि०), पृ० ३६५–३७०।

२ **विद्धशाल भंजिका** अङ्क १="रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकल कला निलयः स यस्य शिष्यः।"

३ **'काव्यमीमांसा** : भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ० ३।

धनपाल ने लिखा है कि "यायावर-कवि राजशेखर की रचनाएँ मुनियों की वृत्तियों के समान समाधिगुणवाली, प्रसन्न और परिपक्व होती हैं—

समाधि-गुण-शालिन्यः प्रसन्न परिपक्त्रिमाः ।
यायावर-कवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥

स्वयं राजशेखर ने अपने सम्बन्ध में दैवज्ञ की उक्ति को उद्धृत कर लिखा है कि प्राचीनकाल में जो कवि वाल्मीकि था, वही जन्मान्तर में भर्तृमेण्ठ, भवभूति तथा चतुर्थ जन्म में राजशेखर के रूप में उत्पन्न हुआ है—

बभूव बल्मीकभवः कविः पुराततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

राजशेखर की काव्यमीमांसा में अठारह अध्याय हैं। इनमें निम्नलिखित विषयों का विवेचन है—"काव्य स्वरूप, काव्य भेद, काकु-वक्रोक्ति, रीतिप्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कवि-चर्या, राज-चर्या, राजदरबारी-वैभव, शब्द-हरण, अर्थ-हरण, कवि-समय, काल-विभाग, आदि नवीन और पुरातन विषयों का अदभुत और विशद संग्रहात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वंश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्य विद्यावधू और काव्यपुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा में एक ही साथ काव्य के तीन अंगों—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप निर्देश राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल-रुचि तथा साहित्यिक कल्पना-शक्ति का द्योतक है। ग्रन्थ के आरम्भ में कितने ही अख्यात आचार्यों का नामोल्लेख भारतीय काव्य-शास्त्र की विशाल परम्परा और महान् साहित्य की ओर संकेत करता है। निःसन्देह अपने प्रकार का यह एक निराला ग्रन्थ है।[2]

मुकुलभट्ट :

मुकुलभट्ट की एकमात्र रचना 'अभिधावृत्तिमातृका' है जिसमें केवल १५ वृत्ति सहित कारिकाएँ हैं, जो कि अभिधा और लक्षणा का विवेचन करती हैं। इस ग्रन्थ में ध्वनि एवं व्यंजना का अप्रत्यक्षतः विरोध किया गया है। मुकुलभट्ट ने व्यंजना तो क्या लक्षणा को भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधा का ही एक भेद माना है।

मुकुलभट्ट के विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने किया है। अतः ये मम्मट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ने मुकुलभट्ट को अपना गुरु माना है। मुकुलभट्ट ने स्वयं 'भट्टकल्लपुत्रेण मुकुलेन निरुपिता लिखकर' अपने

---

१. निरन्तर चलने-फिरने वाले गृहस्थ ऋषि।

२. **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा**, पृ० ५२०।

को भट्टकल्लट का पुत्र बतलाया है। 'राजतरंगिणी' में भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मा का समकालीन बतलाया गया है।[1]

अभिनवगुप्त :

अभिनवगुप्त काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के प्रसिद्धिप्राप्त विद्वान् हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन की ध्वनि परम्परा के आचार्य हैं। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे, इनके अनेक गुरुओं का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इनकी गुरु परम्परा विस्तृत है, उसी प्रकार इनके ग्रन्थों की संख्या ४१ के लगभग है। किन्तु काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कृतियों में 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' हैं। वाचस्पति गैरोला ने इनके एक काव्यशास्त्र विषयक अन्य ग्रन्थ का भी संकेत किया है—"काव्यशास्त्र पर उन्होंने 'अभिनव भारती', 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'काव्य कौस्तुभ विवरण' नामक तीन टीकाग्रन्थ क्रमशः भरत के नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक और अपने गुरु भट्टतौत के काव्यकौस्तुभ पर लिखे।"[2] अभिनवगुप्त के ये ग्रन्थ टीकाग्रन्थ होने पर भी अनेक मौलिक ग्रन्थों से कहीं अधिक गम्भीर और मौलिक हैं। व्याकरण के इतिहास में महाभाष्यकार पतंजलि एवं दार्शनिक टीकाकारों में वाचस्पति मिश्र को जो महत्व प्राप्त है, वही काव्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को प्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र पर इनकी व्याख्या अपूर्व है। यदि भरत और आनन्दवर्धन को इन जैसा समर्थ, प्रतिभाशाली टीकाकार उपलब्ध न हुआ होता तो इन दोनों काव्यशास्त्रियों की सत्ता आज प्रश्नवाचक चिह्न के साथ ही स्वीकार की जाती।

अभिनवगुप्त का समय निश्चय ही आनन्दवर्धन के पश्चात् और मम्मट से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के ये टीकाकार हैं, उनका समय ८५५–८८४ ई० है। मम्मट का समय एकादश शतक का उत्तरार्द्ध है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अभिनवगुप्त का सम्मान के साथ उल्लेख किया है। अतः उनसे पूर्ववर्त्ती इन्हें होना ही चाहिए। इसलिए अभिनवगुप्त का समय दशम शतक का उत्तरार्द्ध स्थिर होता है। यही गैरोला, पोद्दार एवं डा० नगेन्द्र का भी अभिमत है।[3]

अभिनव के गुरु भट्टेन्दुराज तथा भट्टतौत थे। इनके नामों का उल्लेख अभिनव ने विभिन्न स्थानों पर बड़े सम्मान से किया है।

---

१. **राजतरंगिणी** ५।५६

अनुग्रहायलोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धाभुवमवातरन्॥

२. गैरोला : **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० ९५७।

३. वही ,, ,, ,, , पृ० ९५७।
पोद्दार ,, ,, ,, , पृ० १९२।
डा० नगेन्द्र **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा**, पृ० २०८।

रससिद्धान्त के व्याख्याताओं में भी अभिनव अधिक महत्वप्राप्त हैं।[१] इनका 'अभिव्यक्तिवाद' रससिद्धान्त का मान्यताप्राप्त सिद्धान्त है। अभिनव ने रसभाव आदि की प्रतीति व्यंग्य द्वारा मानी है। तथा वे रस के रहस्य का स्पष्टीकरण व्यंजना शक्ति से करते हैं। उनकी इस महत्वपूर्ण उपलब्धि ने रस एवं ध्वनि सिद्धान्त का निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर दिया। "ध्वनिकार ने ध्वनि के तीन रूपों—वस्तु ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं रस-ध्वनि—की प्रतिष्ठा की थी, किन्तु अभिनवगुप्त ने इससे आगे बढ़कर यह उद्घोषणा की कि काव्य रस के द्वारा ही जीवित रहता है तथा रस के बिना काव्य काव्य की अभिधा नहीं प्राप्त कर सकता। इन्होंने बताया कि वस्तु एवं अलंकार ध्वनियाँ भी अन्ततः रस का ही बोध कराती हैं। अभिनव काश्मीरी शैवदर्शन के अनुयायी हैं फलतः उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन पर उनकी दार्शनिक मान्यता का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी उसे काव्य का सर्वस्व नहीं माना है। अभिनव के अनुसार काव्य में 'शब्दार्थ—गुणालंकारसंयुक्त रसात्मकता' की चारुता का रहना परमावश्यक है।......अभिनव रसात्मक सौन्दर्य से युक्त ध्वनि को ही काव्य मानने के पक्ष में हैं न कि केवल ध्वनि को।"

धनंजय एवं धनिक :

धनंजय भरत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं किन्तु इनकी कृति में काव्यशास्त्रीय तत्वों का भी विवेचन उपलब्ध है। इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' भरत-मुनि के उपरान्त इस (नाट्य) विषय का एक महत्वपूर्ण किन्तु संक्षिप्तकाय ग्रन्थ है। यह सरल व आकर्षक शैली में लिखित है। धनंजय ने अपने पिता का नाम विष्णु बतलाया है। ये महाराज मुञ्ज के समकालीन थे। मुञ्ज मालवा के परमारवंशीय राजा थे, यह इस श्लोक से स्पष्ट है—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्ध हेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

प्रायः सभी प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् आलोचकों ने इस श्लोक के आधार पर धनंजय का समय ९७४–९९४ ई० सन् माना है। डा० त्रिगुणायत ने धनिक का समय भी ९९४–१००० के मध्य माना है।

'दशरूपक' ग्रन्थ में चार 'प्रकाश' हैं जिनमें ३०० कारिकाएँ हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम 'प्रकरण' में नाट्य एवं नृत्त का लक्षण, पञ्चसन्धि, अर्थोपक्षेपक तथा वस्तु के भेदों का विवेचन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद तथा भारती, कैशिकी आदि वृत्तियों का निरूपण है। तृतीय प्रकाश में नाटकीय तत्वों पर

---

१. व्याख्यातारो भारतीयेलोल्लटोद्भट शंकुकाः ।
महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्ति धरोऽपरः ॥

तथा चतुर्थ प्रकाश में रस के विभिन्न तत्वों पर व्यापक विचार किया गया है। इस प्रकार नाटक के तत्वों पर विचार करते समय धनंजय की दृष्टि प्रायः वस्तु, नेता और रस के विश्लेषण तथा रूपकों के वर्णन तक ही सीमित है। इस सम्पूर्ण विवेचन में धनञ्जय का आदर्श या लक्ष्य था नाटकीय तत्वों का सरल व संक्षिप्त विवेचन—"**नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।**"

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में धनंजय का अपना एक नया सिद्धान्त है, जिसे **भावकत्ववाद** के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावोरसः स्मृतः ॥४।१

धनंजय व्यंजनावाद की अपेक्षा तात्पर्यवाद के समर्थक हैं। धनंजय शान्त रस को नाटक में ग्राह्य नहीं मानते हैं। धनजंय का यह ग्रन्थ लघु होते हुए भी सारगर्भित एवं लोकप्रिय है।

धनिक धनंजय के छोटे भाई थे। धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। इनकी टीका गद्य में है। इस टीका में लेखक ने लक्षणों के उदाहरणस्वरूप विभिन्न काव्य एवं नाटकों के श्लोकों को उद्धृत किया है। "अवलोक के अभाव में दशरूपक की कारिकाएँ अपूर्ण हैं, इसी से दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति का महत्व स्पष्ट हो जाता है।"[1]

राजानक कुन्तक :

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक मौलिक प्रतिभा के धनी, प्रखर मेधा वाले आचार्य थे। उन्होंने काव्य के मूलतत्व को अपनी विलक्षण प्रतिभा से नवीन रूप में प्रस्तुत किया है।

काव्य की आत्मा या जीवित के रूप में वक्रोक्ति की स्थापना—'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' उनकी अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक है। वे काव्य के अन्यान्य तत्वों को वक्रोक्ति में अन्तर्भुक्त कर एक नवीन सम्प्रदाय को जन्म देते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र में एक सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित नहीं हो सका है।

कुन्तक की वक्रोक्ति भारतीय काव्य तथा काव्यशास्त्र में चिर परिचित थी किन्तु उसका व्याख्यान और स्थापना कुन्तक की अपनी विशेषता है। कुन्तक ने भामह की—"**वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः**" तथा "वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते" (शब्दवक्रता एवं अर्थवक्रता का समन्वित रूप वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही इष्ट अर्थ और वाणी का मूल अलंकार है) से प्रेरणा लेकर अपने सिद्धान्त

---

१ डा० भोलाशंकर व्यास : **हिन्दी दशरूपक** भूमिका, पृ० ३२।

का प्रवर्त्तन किया है। कुन्तक की व्याख्या से ही वह अलंकार तथा काव्य के मौलिक तत्व से एक सर्वव्यापक तत्व बनती है।

कुन्तक की अपनी कुछ विशेषताओं में बढ़ती हुई अलंकारों की संख्या का नियन्त्रण, रसवदादि अलंकारों का मौलिक विवेचन, वैदर्भादि मार्गों के प्रदेशाभिधान का खण्डन तथा शब्द और अर्थ के सम्मिलन में काव्यत्व की स्वीकृति—"**शब्दार्थौ-काव्यम् वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्**" भी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। शब्द और अर्थ की सहकारिता में काव्यत्व को स्वीकार करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि—"काव्य की शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति इन दोनों (शब्द और अर्थ) की न्यून और आधिक्य से रहित (परस्परस्पर्द्धि स्वभाव से) कुछ अनिर्वचनीय (लोकोत्तर) मनोहर स्थिति ही साहित्य है"—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

कुन्तक का 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। प्रथम उन्मेष में काव्य के प्रयोजन तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसकी व्याख्या है, उसके छः भेदों का निरूपण है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों का वर्णन है। तृतीय उन्मेष में वाक्य वक्रता का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के शेष दो प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता नामक भेदों का विवेचन है।

कुन्तक का समय आनन्दवर्धन तथा राजशेखर के बाद निश्चितप्रायः है क्योंकि कुन्तक ने इन दोनों ही आचार्यों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है—"**यस्मादत्रध्वनि-कारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जक भावोऽत्र सुतरां समर्पितस्तत्र किं पौनरुक्त्येन।**" [व० जी०, पृ० १९६] तथा—"**भवभूतिराजशेखरविरचितेषुबन्धसौन्दर्यसुमनेषुमुक्तकेषु परि-दृश्यते**"। [व० जी०, पृ० १५६]

इसी प्रकार व्यक्तिविवेककारमहिमभट्ट ने कुन्तक का नामोल्लेख इस प्रकार किया है—"काव्यकाञ्चन शाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि। यस्य सर्वनिर-वद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया।" [व्यक्तिविवेक, पृ० ५८]

इस प्रकार कुन्तक का समय महिमभट्ट से पूर्व तथा आनन्दवर्धन और राजशेखर से बाद में होना चाहिए। यह समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (पृ० ८८) के सम्पादक ने "इनका समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ" माना भी है।

महिमभट्ट :

'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ के लेखक महिमभट्ट अनुमानवादी लेखक हैं। उनका ग्रन्थ उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा तर्कशक्ति का परिचायक ग्रन्थ है। इस 'व्यक्ति-विवेक' ग्रन्थ में वे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के व्यंजना सिद्धान्त का खण्डन कर

शंकुक के अनुमिति सिद्धान्त का अपने ढंग से प्रतिपादन करते हैं। व्यक्ति=व्यंजना का विवेक=विवेचन होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम **व्यक्तिविवेक** है। वास्तव में इस रचना का मूल उद्देश्य ध्वनि को अनुमानान्तर्भुक्त करना है, जैसा कि स्वयं उन्होंने मंगलाचरण में कहा भी है—"समस्त ध्वनि को अनुमान में अन्तर्भूत करने के निमित्त महिमभट्ट परावाणी को प्रणाम कर 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ" —

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेप्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।

[व्य० वि०, १।१]

महिमभट्ट ने न्यायवादी दृष्टिकोण अपना कर ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है। ध्वनिकार से उनका विरोध उनकी व्यंजना नामक तीसरी शक्ति के मानने से है, क्योंकि वे उसे अनुमान में ही अन्तर्भुक्त करना चाहते हैं। यही नहीं, महिमभट्ट को केवल अभिधा नामक शब्दशक्ति ही स्वीकार है, जैसा कि स्वयं उन्होंने लिखा है—

शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ।।

[व्य० वि०, १।२६]

अर्थात् शब्द की एक ही शक्ति है अभिधा। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अनुमान के द्वारा सम्भव है न कि व्यंजना के द्वारा। यही नहीं, शब्द में केवल शक्ति होने के कारण वह सदा वाचक ही होता है। इस प्रकार वे अभिधा के अतिरिक्त सभी शब्द-शक्तियों का निराकरण कर देते हैं।

महिमभट्ट ने वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ में परस्पर व्यंग्यव्यंजकभाव मानने वालों की भी आलोचना (१।३३-३४) की है। उनकी आलोचना का तर्कपूर्ण सारगर्भित उक्तियों से मम्मट ने काव्यप्रकाश में खण्डन किया है।

महिमभट्ट का ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि की परीक्षा कर उसके लक्षण का प्रबल रूप में खण्डन है तथा उसका अनुमानान्तर्गत अन्तर्भाव भी है। द्वितीय विमर्श में काव्यदोषों पर विचार करते हुए उन्हें ध्वनि में लक्षित किया है। तृतीय विमर्श में आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के चालीस भेदों के उदाहरणों को अनुमान में अन्तर्भुक्त किया है।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के व्यंजना विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने किया है; अतः ये मम्मट से पूर्ववर्त्ती हैं। मम्मट का समय एकादश शतक के उत्तरार्ध में सिद्ध होता है। इन्होंने आनन्दवर्धन के व्यंजना सिद्धान्त का खण्डन किया है किन्तु आनन्द ने अपने ग्रन्थ में न तो इनका उल्लेख किया है और न ही इनके अनुमितिवाद का। अतः उनसे परवर्त्ती भी हैं। इसलिए इनका समय एकादश शती में स्थिर होता है।

महिमभट्ट के इस अनुमितिवाद का बाद में अनुकरण नहीं हुआ। महिमभट्ट के टीकाकार रुय्यक (ध्वनिवादी) ने अनुमितिवाद का खण्डन कर उपहास भी किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र :

औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र जिनका दूसरा नाम व्यासदास है—"**श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्र नाम्ना विहितः प्रबन्धः।**"[१] काश्मीरी पण्डितों में से एक हैं। क्षेमेन्द्र ने स्वयं को अभिनवगुप्त का शिष्य[२] तथा अनन्तराज का सभापण्डित बतलाया है।[3] अतः उनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

क्षेमेन्द्र लगभग चालीस ग्रन्थों के लेखक हैं किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'औचित्यविचार चर्चा', कविकण्ठाभरण तथा सुवृत्ततिलक विशेष प्रसिद्ध हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' में भरत द्वारा उल्लिखित, आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत औचित्य तत्व का काव्य के प्राणाधायक तत्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है। वे रस एवं औचित्य का निकट सम्बन्ध मानकर रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और औचित्य को काव्य का जीवन। उनका कहना है कि "औचित्य के द्वारा ही काव्य में चमत्कारोदय होता है। औचित्य के बिना काव्य मनोज्ञ नहीं हो सकता। वह रस का भी जीवित है।" इस प्रकार की कल्पना सर्वथा मौलिक है। क्षेमेन्द्र ने काव्य की आत्मा रस को एवं रस की आत्मा औचित्य को स्वीकार कर एक नये तथ्य की व्यंजना की।[४] "काव्य में रस तथा अन्य तत्वों में औचित्य का सबसे व्यापक सम्बन्ध है। रस के साथ काव्य के इतर अंगों को औचित्य सम्बन्ध में गठित होना ही पड़ेगा। तभी काव्य में चमत्कार अथवा वैचित्र्य का उदय होगा—"

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥[५]

निश्चय ही "रसपूर्ण काव्य का स्थायी जीवन औचित्य है, उसके बिना गुण एवं अलंकार से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव हो जाता है"—

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥[६]

---

१ **दशावतारचरित**, १०।४१।

२ **भारतमंजरी**, पृ० ८५ तथा **बृहत्कथामंजरी**, १६।३७।

३ (i) तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। [**कविकण्ठाभरण**]
(ii) श्रीमदनन्तराजनृपते काव्योदयोऽयं कृतः॥ [**औचित्यविचार चर्चा**]

४ बलदेव उपाध्याय : **भारतीय साहित्यशास्त्र**,, भाग २, पृ० ६६।

५ **औचित्य विचार चर्चा**, श्लोक ३।

६ ,, ,, ,, ५।

क्षेमेन्द्र नौ रस मानते हैं। रसौचित्य के महत्व को स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं कि "औचित्य से पूर्ण होकर सुन्दर बना हुआ रस सभी मनुष्यों के हृदय में व्याप्त होकर मन को उसी प्रकार अंकुरित करता है जिस प्रकार वसन्त अशोक को"—

कुर्वंन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥[1]

'कविकण्ठाभरण' में कवि-शिक्षा का वर्णन है। ''ग्रन्थ की पांच संधियों में क्रमशः कवित्व प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण तथा दोषों का विवेचन है।'' सुवृत्ततिलक में छन्द के औचित्य पर विचार किया गया है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं।

भोजराज :

भोजराज धारानरेश थे, उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी प्रथमार्द्ध माना गया है। भोजराज के नाम से दो ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'श्रृंगारप्रकाश' प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ काव्य-शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा विशालकाय भी। अतः इन्हें काव्यशास्त्रीय विश्वकोष भी कहा जा सकता है।

'सरस्वती कण्ठाभरण' में काव्य के दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में विभक्त है। यह ग्रन्थ सरल सुबोध शैली में पद्य-बद्ध है तथा इसमें स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यों के उद्धरण भरे पड़े हैं। अतः इसे संकलन प्रधान ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। भोज के इस ग्रन्थ में वाङ्मय के तीन प्रकार माने गये हैं—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति एवं रसोक्ति—जिनमें रसोक्ति साहित्य का श्रेष्ठतम रूप है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानीते ॥[2]

'श्रृंगारप्रकाश' में रसराज श्रृंगार का विवेचन है। यह ३६ अध्यायों या प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम आठ प्रकाशों में व्याकरण के सिद्धान्त, अगले चार अध्यायों में क्रमशः गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है। शेष तेरह अध्यायों में रस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। भोज श्रृंगार को रसराज मानते हैं

---

१ औचित्य विचार चर्चा, श्लोक १६।
२ सरस्वती कण्ठाभरण, ५।८।

तथा उसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव भी करते हैं। उनका कहना है कि "शृंगार ही एक मात्र रस है और उसका इतना व्यापक क्षेत्र है कि उसमें अन्य सभी रसों का समावेश हो जाता है—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
[शृंगारप्रकाश]

शृंगारप्रकाश गम्भीर एवं प्रौढ़ शैली में गद्य-पद्यबद्ध रचना है।

आचार्य मम्मट (१०५०—११००) :

काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनिप्रस्थापनाचार्य मम्मट का व्यक्तित्व सम्मान के साथ याद किया जाता है। मम्मट ने अपने से पूर्व शताब्दियों से चलने वाले काव्य-सम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक रूप में खण्डन-मण्डन अपने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ में किया है। यह लक्षण-ग्रन्थ परवर्ती साहित्यकारों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बन गया है। शंकर के शारीरिकभाष्य एवं पतंजलि के महाभाष्य की ही भाँति काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मम्मट के इस ग्रन्थ को सम्मान मिला है। यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्त्ती भामह, आनन्दवर्धन, रुद्रट, उद्भट, वामन एवं अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर बना है। इसलिए इसका रचना काल भी प्रायः निर्णीत है और वह काल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

मम्मट का काव्यप्रकाश पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मन्तव्यों का एक संग्राहक ग्रन्थ है, संग्राहक प्रवृत्ति होने पर भी मम्मट में अपना विचार स्वातन्त्र्य एवं मौलिकता है। लेखक की खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति को देखकर उसकी प्रौढ़ चिन्तनशक्ति, प्रतिभा तथा साहित्यमर्मज्ञता का पता चलता है। काव्यशास्त्र में चलने वाली अराजकता को इस 'काव्यप्रकाश' ने बहुत कुछ शान्त किया था।

'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र का एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी अङ्गों का दस उल्लासों में १४२ कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों में समावेश किया गया है। लेखक की शैली सूत्रात्मक होते हुए भी प्रभावशालिनी है। इसके प्रथम उल्लास में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य के भेदों की चर्चा है। द्वितीय एवं तृतीय उल्लासों में शब्द शक्तियों का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि, रस तथा ध्वनि के भेदोपभेदों का विवेचन है। पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का विवेचन करने के बाद ध्वनि की स्थापना की गई है। षष्ठ उल्लास चित्र काव्य का संक्षिप्त विवेचन करता है। सातवें उल्लास में दोष, आठवें में गुण, नवम में शब्दालंकार तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों का तथा दसवें उल्लास में अर्थालंकारों का सोदाहरण विवेचन है।

इसकी ग्रन्थ लोकप्रियता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस पर ७० से अधिक टीकायें लिखी गई हैं। इन टीकाओं में गोविन्द ठाकुर की 'प्रदीप' तथा भट्ट वामन की टीका प्रसिद्ध हैं।

आचार्य मम्मट की सबसे बड़ी विशेषता उनकी समन्वयात्मक दृष्टि है। इसलिए इन्होंने ध्वनि एवं रस सम्प्रदायों की दृष्टि से सम्पूर्ण विवेचन किया है। ध्वनि सम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। इसमें उन्हें अनुमानवादी, अभिधावादी तथा लक्षणावादियों का जमकर खण्डन भी करना पड़ा है, जिससे कि परवर्ती काल में ध्वनि सम्प्रदाय का मार्ग प्रशस्त हो सका है। ग्रन्थ में मम्मट ने रसविषयक शंकुक, लोल्लट, अभिनव, भट्टनायक आदि के मतों का संग्रह भी किया है, यह उनकी अनुसंधानपरक प्रतिभा का तो परिचायक है ही; किन्तु साहित्य के विद्यार्थी के लिए एक बहुत बड़ी देन भी है। काव्यप्रकाश को पढ़कर छात्र को काव्यशास्त्र के ज्ञान के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता है। आज तक काव्यप्रकाश को पढ़े बिना काव्यशास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। काव्यप्रकाश में तीन गुणों की स्वीकृति तथा वामन में के बीस गुणों की चर्चा भी मिलती है। दोषों की विस्तार से चर्चा भी इनकी एक विशेषता है। मम्मट का काव्य-लक्षण भी काव्यशास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना जाता है। इसकी पहली विशेषता समन्वयवादी दृष्टि है। इसमें कृति और अनुभूति, सामाजिक एवं कवि दोनों के दृष्टिकोण की पूर्णता का द्योतक है। इसमें समस्त काव्यसम्प्रदायों के तत्वों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि की विशेषताओं का समाहार है। यह लक्षण अन्य लक्षणों की तुलना में अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित है। 'अदोषौ' और 'सगुणौ' विशेषण नवीन दृष्टिकोण के परिचायक हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मम्मट का काव्य-लक्षण सर्वथा वैज्ञानिक, व्यापक एवं सरल है इसलिए हेमचन्द्र, वागभट्ट, विद्यानाथ, विद्याधर और जयदेव आदि उससे प्रभाव ग्रहण करते हैं।

मम्मट का रस विवेचन यद्यपि मौलिक नहीं है फिर भी वह इतना निर्भ्रान्त है कि उसका महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। इनका रस-विषयक मत अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का सार-संग्रह है। इन्होंने काव्य-प्रयोजन में आनन्द तत्व की प्रतिष्ठा की है तथा रस को काव्य का सर्वातिशायी तत्व बतलाया है। रस और ध्वनि सम्प्रदाय का समन्वय मम्मट की एक ऐसी देन है जिसने काव्यशास्त्र के इतिहास में एक व्यवस्था को स्थापित किया है। मम्मट ने इस ग्रन्थ में रस, रसों की संख्या, उसके अंग और रस की अलौकिकता आदि पर भी विचार किया है। ध्वनिवादियों के अनुसार मम्मट के रस का स्वरूप इस प्रकार है—"लोक में रति आदि स्थायी भाव के कारण, कार्य एवं सहकारी होते हैं। वे ही काव्य एवं नाटक में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। उन्हीं विभावादि के द्वारा व्यक्त होकर स्थायीभाव रस कहा जाता है"—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैस्स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।

[का० प्र०, ४।२७-२८]

गुणों की दृष्टि से भी मम्मट के विचार महत्वपूर्ण हैं । आनन्दवर्धन ने गुण को रस का धर्म मानकर उसके तीन प्रमुख भेद माने थे । वे हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद । आनन्द का अनुकरण मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर एवं विश्वनाथ ने किया है । मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के गुण विस्तार को तीन गुणों में ही गतार्थं किया है । इसके अतिरिक्त मम्मट यद्यपि मुख्यतः गुणों को रस का धर्म मानते हैं फिर भी गौणतः वे शब्दार्थ के भी धर्मं मानते हैं—"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।"

[का० प्र०, ८-७१]

मम्मट आनन्द से प्रेरणा लेकर गुणों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान रस के उत्कर्षाधायक एवं अपरिहार्य धर्मं गुण हैं तथा काव्य में अलंकारों की स्थिति अंगों के उपकारक हारादि आभूषणों की भाँति है जो उसे यदा-कदा उत्कर्ष युक्त करते हैं"—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

[का० प्र०, ८।६६-६७]

शब्दशक्ति आदि के प्रसङ्ग में वे वैयाकरणों से प्रभावित हैं । इसीलिए वे वैयाकरणों को "प्रथमे विद्वासः" विशेषण प्रदान करते हैं ।

ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्थित करने वाले और इसके विरोधी मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक, कुतक और महिमभट्ट आदि हैं । इन आचार्यों में से महिमभट्ट की मान्यताओं और उक्तियों की धज्जियाँ उड़ाकर उनके ध्वनि-सिद्धान्त को निर्मूल करने के संकल्प को ही मटियामेट कर दिया है । मम्मट ने ध्वनि के आधार पर ही काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद माने हैं ।

आशय यह है कि मम्मट का व्यक्तित्व महान् था, उनके द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त आज तक निर्बाध रूप में मान्यता प्राप्त हैं ।

रुय्यक :

राजानक रुय्यक काश्मीरी विद्वान् हैं । इन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त 'व्यक्तिविवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी है । रुय्यक काश्मीर निवासी राजा जयसिंह के सन्धि विग्रहिक तथा मंखक के पुत्र थे । अतः इनका समय द्वादश

शतक मानना उचित है। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ में ८१ शब्दार्थालंकारों का सुन्दर विवेचन किया है। इसमें केवल अलंकारों का ही विवेचन है। इसमें दो नवीन अलंकार—विकल्प और विचित्र का नया समावेश है। काव्य-शास्त्रीय अन्य विषय इस ग्रन्थ की सीमा में नहीं आते हैं। मम्मट ने अलंकारों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की आधारशिला अन्वय-व्यतिरेक मानी थी, किन्तु रुय्यक ने यह आधार आश्रयाश्रयिभाव माना है। रुय्यक की वर्णन सम्बन्धी एक अन्य विशेषता भी हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है और वह है ग्रन्थारम्भ में अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से सारगर्भित समीक्षण। यह समीक्षण संक्षिप्त होने पर अत्यन्त तत्त्वपूर्ण और सुनियोजित है।

हेमचन्द्र :

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत "काव्यानुशासन' प्रसिद्ध आलंकारिक ग्रन्थ है। इनका समय १०८८ से ११७२ ई० तक माना जाता है। 'काव्यानुशासन' सूत्र शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इस पर विवेक नामक एक टीका स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेद हैं, जिनमें काव्यलक्षण, प्रयोजन, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार व अड़तीस अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ लेखक की संग्रहात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है।

वाग्भट्ट प्रथम :

इनका 'वाग्भट्टालंकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ पर आठ टीकाएँ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। इनका समय ११७८ ई० के लगभग निश्चित किया गया है।

जयदेव :

'चन्द्रालोक' प्रणेता पीयूषवर्षी जयदेव अपनी अनुपम कृति के कारण काव्य-शास्त्र की परम्परा में लोकप्रिय हैं। यह स्वल्पाकार कृति पद्यबद्ध है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन यद्यपि नहीं है तथापि दोष, रीति, अलंकारादि पर सुन्दर एवं सरल हृदयग्राह्य शैली में विवेचन किया गया है। ग्रन्थ कारिकात्मक है। एक कारिका में ही लक्षण व उदाहरण दोनों का समावेश किया गया है। जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभासद थे। मम्मट के परवर्ती तथा विश्वनाथ से पहले होने के कारण इनका समय द्वादश शतक उत्तरार्ध माना जाता है।

विद्याधर :

इनका समय चौदहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये दक्षिणात्य काव्य-शास्त्रीय विद्वान थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ उन्मेष हैं, जिनमें

काव्य स्वरूप, वृत्ति, ध्वनि भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य्, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि का विवेचन किया गया है।

विद्यानाथ (**चतुर्दश शतक**) :

'प्रतापरुद्री यशोभूषण' ग्रन्थ के लेखक हैं। इनके इस ग्रन्थ में नौ प्रकाश हैं, जिनमें नायक भेद, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, अलंकार आदि का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ कविराज :

आचार्य विश्वनाथ काव्यशास्त्र की परम्परा में एक समर्थ आचार्य हैं। विश्वनाथ बहुमुखी प्रतिभा वाले सोलह भाषाओं के ज्ञाता थे—"**षोडशभाषावार-विलासिनीभुजङ्ग**"।

आचार्य विश्वनाथ ने अपना परिचय स्वयं कहीं नहीं दिया है। हाँ, इनके अलाउद्दीन के उल्लेख के कारण इनका समय चौदहवीं शती निश्चित किया जाता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सन्धौसर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलाउद्दीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रह ॥

अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ में हुई थी, इसलिए विश्वनाथ का समय इसके बाद में ही होना चाहिए। रुय्यक द्वारा संकेतित विकल्प नामक अलंकार को विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। नैषध का "**धन्यासि खलु वैदर्भीगुणैरुदारैः०**" यह श्लोक भी साहित्यदर्पण में उद्धृत है। जयदेव के 'प्रसन्न राघव' नामक नाटक का भी एक श्लोक इन्होंने दर्पण में उद्धृत किया है। अतः विश्वनाथ का समय चतुर्दश शतक के अन्तिम चरण में मान लेना असंगत न होगा।

'साहित्यदर्पण' विश्वनाथ का एक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। यह दस परिच्छेदों में कारिका, वृत्ति एवं उदाहरणों में लिखित है। इसमें काव्य एवं नाट्य दोनों के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन तथा काव्यहेतु एवं काव्य के भेदों का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में शब्द की शक्तियों का, तृतीय में रस तथा नायक-नायिका भेद का निरूपण है। चतुर्थ परिच्छेद में काव्य के ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य नामक भेदों का विस्तार से विवेचन है। पाँचवें पदिच्छेद में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना तथा छठे में दृश्यकाव्य का बड़े विस्तार से विवेचन है। शेष चार परिच्छेदों में क्रमशः दोष, गुण, रीति एवं अलंकारों का निरूपण है। इस कृति पर मम्मट का पूरा-पूरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण का भयङ्कर रूप में खण्डन किया है फिर भी मम्मट की छाप सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इस पुस्तक का नाट्य-तत्वों का वर्णन मम्मट से इसकी पृथक्ता सिद्ध करता है। विश्वनाथ रस को काव्य की आत्मा मानकर ही अपना काव्य का लक्षण—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" लिखते हैं।

"आश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्होंने आनन्दवर्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का एक रूप माना है।" अलंकारों के विवेचन में इन पर मम्मट और रुय्यक का प्रभाव पड़ा है।

विश्वनाथ का यह ग्रन्थ छात्र तथा विद्वत्समाज में बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। क्योंकि यह सरल एवं सरस भाषा में है। यद्यपि काव्यप्रकाश की शैली में लिखा गया है किन्तु इसमें काव्यप्रकाश जैसी गम्भीर एवं सूक्ष्म चिन्ता का अभाव है। कहीं-कहीं काव्यप्रकाश के सिद्धान्तों के खण्डन का असफल प्रयास भी किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए परम उपादेय है।

रूप गोस्वामी :

रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के भाई थे तथा चैतन्य महाप्रभु के शिष्य भी। चैतन्य का समय पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में निश्चित किया जाता है। अतः उनके शिष्य का समय उनके लगभग ४०-५० वर्ष बाद तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु काव्य-शास्त्रीय परम्परा में 'भक्तिरसामृत सिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'नाटक चन्द्रिका' को समाहित किया जा सकता है। 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' ये दोनों ही रस विषय पर अच्छे ग्रन्थ हैं। 'भक्ति रसामृत' में भक्ति को रस सिद्ध किया गया है तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' भी उसी का पूरक ग्रन्थ है, किन्तु उसमें शृंगार रस का विवेचन किया गया है।

अप्पय दीक्षित :

अप्पय दीक्षित दाक्षिणात्य विद्वान् हैं। इन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु काव्य-शास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) वृत्तिवार्तिक, (२) चित्र-मीमांसा, (३) कुवलयानन्द। वृत्तिवार्त्तिक शब्दशक्ति पर लिखा गया दो परिच्छेदों का ग्रन्थ है। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है। चित्रमीमांसा अतिशयोक्ति अलंकार पर्यन्त प्राप्त होने से अपूर्ण ग्रन्थ है। कुवलयानन्द अलंकारों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ चन्द्रालोक शैली पर निर्मित है। इनका समय सोलहवीं-सत्रहवीं सदी माना गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ :

काव्यशास्त्र की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान शीर्षस्थानीय है। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, विद्वत्ता की दृष्टि से मम्मट तथा विश्वनाथ की कोटि के थे। पण्डितराज दिल्लीश्वर शाहजहाँ तथा उनके पुत्र दारा के प्रेमपात्र रहे हैं। दोनों के सम्बन्ध में पण्डितराज ने प्रशंसापरक रचनाएँ लिखी हैं। शाहजहाँ ने इन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। इस आधार पर इनका समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार कर सकते हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आपकी 'रसगङ्गाधर' तथा 'चित्रमीमांसाखण्डन' दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। 'रसगङ्गाधर' अपूर्ण होने पर भी प्रौढ़ एवं विद्वत्तापूर्ण कृति है। इसमें प्रदत्त उदाहरण के श्लोक पण्डितराज द्वारा स्वयं निर्मित हैं। इस ग्रन्थ में दो 'आनन' हैं। प्रथम आनन में अन्य विद्वानों के काव्यलक्षणों का खण्डन कर "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" काव्य का निर्दुष्ट लक्षण प्रतिपादित किया है। काव्य हेतुओं में प्रतिभा को मुख्य माना है। काव्य के चार भेद—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम माने हैं। इसी प्रथम आनन में रस, रसदोष तथा गुणों का व्यापक विवेचन किया गया है। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेदों का विवेचन किया गया है। अभिधा, लक्षणा तथा सत्तर अलंकारों का विवेचन भी इसी आनन में है।

जगन्नाथ का काव्यलक्षण अपेक्षाकृत पूर्ण तथा सुबोध है। ध्वनिवादी होकर भी रससिद्धान्त के प्रति इनका समादर कम न था। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त के प्रति आस्था प्रकट करके भी उसका अन्धानुकरण नहीं किया है। अभिनवगुप्त एवं मम्मट से भी अधिक गम्भीरता से ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के साथ उसे नवीन रूप भी प्रदान किया है। काव्य का विभाजन मम्मट की तरह ध्वनि सिद्धान्त पर आधारित है।

संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में रस का इतिहास जगन्नाथ तक पहुँच कर चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है। इनका रस का विवेचन वेदान्त पर आधारित है। अतः वह दार्शनिक व्याख्या के द्वारा महिमा से मण्डित है। इन्होंने "रस को आनन्द-मय मानकर उसकी पुष्टि के लिए वैदिक मन्त्र को उद्धृत किया है। इनके अनुसार रस आत्मानन्द के सदृश है। अस्त्यत्रापि 'रसों वैसः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इत्यादि श्रुतिः'। वह आत्मा रस स्वरूप है, रस को पाकर ही वह आनन्दरूप होता है।" पण्डितराज रस का विवेचन मम्मट की तरह असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत ही करते हैं। और रस का अन्तर्भाव ध्वनि में ही कर लेते हैं। "रसगंगाधर में रस सम्बन्धी ग्यारह मतों का उल्लेख है। इन्होंने अभिनव के मत को प्रस्तुत करने में अपनो ओर से कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है। ये अभिनव द्वारा कथित वासनाओं को तो तद्वत् स्वीकार करते हैं किन्तु वेदान्त के आधार पर आत्मा की अज्ञानावृत दशा को भी स्वीकार कर लेते हैं। पण्डितराज श्रुति का सहारा लेकर रत्यादि से युक्त आवरणरहित चैतन्य को ही 'रस' मानते हैं।" इनका रस विवेचन काव्य को दृष्टि में रखकर ही किया गया है नाटक के आधार पर नहीं। पण्डितराज गुण को रस के अतिरिक्त शब्द-अर्थ और रचना का समान रूप से धर्म मानते हैं। डा० नगेन्द्र ने इनके इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है कि—"जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की विचित्र और परिपक्व विचार शक्ति और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने को बाध्य

करती है । विद्वानों की ज्ञान परीक्षा के लिए रसगंगाधर भले ही एक निकष रहा हो, पर भाषा की कठिनता के कारण सामान्य पाठक इसे नहीं अपना सके । किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य में कोई क्षति नहीं होती ।''

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त पण्डितराज का दूसरा ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा-खण्डन' है । जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें अप्पय दीक्षित के अलंकार विषयक ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' का खण्डन है ।

विश्वेश्वर पाण्डेय :

'अलङ्कार कौस्तुभ' के निर्माता विश्वेश्वर पाण्डेय अठारहवीं शताब्दी के काव्यशास्त्री हैं । इन्होंने अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज के विभिन्न विचारों का खण्डन कर स्वयं को उनका परवर्त्ती सिद्ध कर दिया है ।

काव्य-शास्त्र की परम्परा में 'अलंकार कौस्तुभ' ग्रन्थ अलंकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है । विश्वेश्वर पाण्डेय के अन्य ग्रन्थों में 'अलंकार मुक्तावली', 'रस चन्द्रिका', 'अलंकार प्रदीप', 'कवीन्द्र कण्ठाभरण' आदि उल्लेखनीय हैं ।

इन काव्य-शास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य भी काव्य-शास्त्री हुए हैं, जिनका संस्कृत काव्य-शास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान है । इनमें से भामह के काव्यालङ्कार २।४०, २।८८ तथा उसकी नमिसाधु की टीका १।२, २।१, ११।२४, राजशेखर की काव्यमीमांसा आदि में 'यतोमेधाविरुद्र कुमार दासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते' पृ० २७ में उल्लेख प्राप्त **मेधाविन**, रावणवध महाकाव्य के रचयिता **भट्टी**, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक, काव्य नाट्य मिश्रित परम्परा में सागरनन्दि, शारदातनय आदि अधिक प्रसिद्ध हैं । किन्तु किसी प्रामाणिक उपलब्ध कृति के अभाव में हम उनका नामोल्लेख करके ही सन्तोष करते हैं ।

निष्कर्ष—वैदिक काल से सतत प्रवहमान इस काव्य-शास्त्रधारा का प्रवाह विश्वेश्वर पाण्डेय तक अश्रान्त रूप से चला आया है । इस समग्र काल को विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से शैली के आधार पर चार भागों में विभक्त किया है—

१. प्रारम्भिक काल (अज्ञात काल से लेकर भामह तक),
२. रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन ८५० ई० तक),
३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट १२५० ई० तक),
४. व्याख्या काल (मम्मट से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक) ।

कुछ दूसरे विद्वान् ध्वनि सिद्धान्त को काव्य-शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मानकर इस काल को तीन भागों में विभक्त करते हैं—

१. पूर्व-ध्वनि काल—प्रारम्भ से आनन्दवर्धन (८५० ई०) तक,
२. ध्वनि काल—आनन्दवर्धन से मम्मट (१२५० ई०) तक,
३. उत्तर-ध्वनि काल—मम्मट से विश्वेश्वर पाण्डेय (अठारहवीं शताब्दी) तक ।

कुछ विद्वानों ने एक अन्य वर्गीकरण भी किया है, जो कि अधिक समादृत न होते हुए भी इतिहास की दृष्टि से दर्शनीय है—

१. प्रारम्भिक निर्माण युग (प्रारम्भ से भरत तक),

२. अन्वेषण एवं रचना युग (भरत से आनन्दवर्धन तक),

३. चिन्तन युग (आनन्द से मम्मट तक),

४. समन्वय या व्याख्या युग (मम्मट से जगन्नाथ तक),

५. आधुनिक युग (जगन्नाथ के अनन्तर)।

इस प्रकार काव्य-शास्त्र की परम्परा के लगभग दो हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र ग्रन्थ-संख्या, प्रतिपादन शैली, विषय-वस्तु, पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर तात्त्विक विवेचन एवं प्राचीनता आदि की दृष्टि से विश्व के समग्र काव्यशास्त्रीय साहित्य में शीर्षस्थानीय है।

---

१. साहित्यम्

शब्दार्थौ..........................विधीयते ॥१॥

अनुवाद—शब्द और अर्थ तो काव्य में सदा साथ-साथ ही ज्ञान में स्फुरित होते हैं अतः काव्य के लक्षण में 'सहितौ' पद से आप कौनसी नई बात का प्रतिपादन कर रहे हैं।

भावार्थ—'नित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः' इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, अतः दोनों की साथ-साथ प्रतीति भी नितान्त अनिवार्य है। इसलिए यह जो आपका कथन है कि शब्द और अर्थ अर्थात् वाचक और वाच्य की सदा अवियुक्त (सहितौ) रूप में प्रतीति होती है, यह कोई नई अथवा अपूर्व बात नहीं है, यह तो केवल पिष्टपेषण ही है। क्योंकि शब्द और अर्थ का साहित्य स्वयं-सिद्ध अथवा नित्य सिद्ध है।

साहित्यमनयोः......................अवस्थिति ॥२॥

अनुवाद—काव्य के सौन्दर्यविधान (शोभाशालिता) या सौन्दर्याधायकता के लिए शब्द और अर्थ की न्यून और आधिक्य से रहित अर्थात् परस्पर्द्धि समभाव से कुछ लोकोत्तर मनोहर स्थिति ही साहित्य है।

भावार्थ—कवि-कौशल से निर्मित साहित्य में शब्द और अर्थ का समान महत्व है, इन दोनों के समभाव से योगदान होने पर ही काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है। इन दोनों की अनिर्वचनीय और मनोहर स्थिति ही साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।

सहितयोर्भावः......................वास्तीत्यर्थः ॥

भावार्थ—सहित [शब्द और अर्थ] का भाव 'साहित्य' है। इन शब्द तथा अर्थ की सहृदय आह्लादकारिता के कारणभूत जो अलौकिक विचित्र रचनाशैली है, उसका नाम ही साहित्य है। कैसी—न्यूनता और अधिकता से रहित होने के कारण मनोहारिणी, परस्परस्पर्द्धित्व के कारण रमणीया। जिसमें शब्द-अर्थ दोनों में से

किसी भी एक का न्यूनत्व (अपकर्ष) नहीं है और न अतिरिक्तत्व (उत्कर्ष) ही है। इस प्रकार की अन्यूनातिरिक्तत्व विशिष्ट स्थिति का नाम साहित्य है।

भावार्थ—शब्द और अर्थ का परस्पर सहभाव ही साहित्य है। शब्द और अर्थ की मनोहारी किन्तु विचित्र रचना-शैली ही सहृदय के हृदय को आकृष्ट करने में समर्थ होती है। इन दोनों में न किसी का कम महत्व है और न अधिक। इसी अन्यूनातिरिक्तत्व विशिष्ट स्थिति को ही साहित्य (सहितयोर्भावः) कहते हैं।

ननु च तथाविधं.................साहित्यमभिप्रेतम् ॥

भावार्थ—(प्रश्न) क्या इस प्रकार का साम्य दोनों (शब्दार्थ) के दूषित होने पर भी सम्भव है, इस दूषित शब्दार्थ को भी क्या साहित्य कहा जायगा ?

इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—'शोभाशालितां प्रति।' शोभा सौन्दर्य को कहते हैं, उससे जो शोभित होता है, वह शोभाशाली, उसका भाव शोभाशालिता, उसके प्रति-शोभाशालिता के प्रति यह स्पष्ट अर्थ हुआ और इसी का नाम सहृदय आह्लादकारिता है। उसी (सौन्दर्यशालिता) के लिए स्पर्धित्वेन-अन्यूनानतिरिक्तत्वेन जो परस्पर समानता से, सुन्दर रूप में जो शब्दार्थ की स्थिति है, उसी का नाम साहित्य है। उस साहित्य में एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का अन्य अर्थ के साथ 'साहित्य' अभिप्रेत है।

आशय यह है कि एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' होना चाहिए। जिस रचना में शब्द और अर्थ का समूह यथायोग्य परस्पर स्पर्धा से भासित होता है, वह विशिष्ट वाक्यरचना ही साहित्य पद की अधिकारिणी है।

मार्गानुगुण्य.....................साहित्यमुच्यते ॥३-५॥

अनुवाद—मार्गों—रीतियों की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से समन्वित, वक्रता की अधिकता से युक्त अलङ्कार का विन्यास जिसमें विद्यमान है, वह साहित्य है।३।

वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी रसों का, जहाँ शब्द और अर्थ में स्पर्धा से उचित रूप में परिपाक रहता है (वह साहित्य है)।४।

काव्य-मर्मज्ञों को आनन्ददायी व्यापार से सुन्दर शब्द और अर्थ की वह कोई अनिर्वचनीय स्थिति पद (व्याकरण, मीमांसा, प्रमाण-न्याय शास्त्र) आदि वाङ्मय का सार [सर्वोत्तम अंश] साहित्य कहा जाता है।

भावार्थ—साहित्य शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसके अन्तर्गत व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि का समावेश भी होता है किन्तु मूलतः साहित्य शब्द यहाँ कवि व्यापार के लिए ही प्रयुक्त है। क्योंकि काव्य के अतिरिक्त अन्यत्र जहाँ

रमणीयता का अभाव हो जाता है, वहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग गौण रूप में होता है तथा अलंकृत पदावली रीति एवं वृत्तियों का मनोहारी प्रयोग और रसपरिपाक के द्वारा काव्यमर्मज्ञों को माधुर्यपूर्ण अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करने वाली रचना को यहाँ साहित्य कहा गया है।

निष्कर्ष—वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक का साहित्य से क्या अभिप्राय है, इसको निष्कर्ष रूप में हम इस प्रकार देख सकते हैं—(१) शब्द और अर्थ का साहित्य (सह अस्तित्व) ही काव्य या साहित्य है। केवल शब्द सौन्दर्य या केवल अर्थ सौन्दर्य का चमत्कार साहित्य नहीं है। (२) साहित्य शब्द की सार्थकता का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने जो लिखा है उसका सार यह है कि शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य ही साहित्य है किन्तु "यह सामंजस्य वाचक-वाच्य का सामान्य सहभाव न होकर विशिष्ट सहभाव है जो वक्रता-वैचित्र्य तथा गुणालंकार सम्पदा से युक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द के सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनों का सम्यक् सामंजस्य रहता है। यह विशिष्ट सहभाव है। विशिष्ट सहभाव का अर्थ यह है कि इसके शब्द और अर्थ दोनों साधारण, चमत्कार शून्य न होकर विशिष्ट होते हैं—

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है। इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर (पदार्थ ही काव्य-मार्ग) में वस्तुतः अर्थ है। इसलिए "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इस काव्य-लक्षण में विशिष्ट शब्द और अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए।"

समीक्षा—राजशेखर ने कुन्तक की तरह शब्द और अर्थ के सहभाव में ही साहित्य के अस्तित्व को स्वीकार किया है—

"शब्दार्थयोयथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।" विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के अनुसार—"साहित्य का 'सहित' शब्द मिलन भाव का सूचक है। वह केवल भाव और भाव का, भाषा और भाषा का, ग्रन्थ तथा ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं है।" साहित्य के इस प्रयोग के मूल में साहित्य शब्द की वह व्युत्पत्ति है जिसमें कहा गया है—'साहितस्य भावः साहित्यम् वा सहितयोर्भावः साहित्यम्" इसी व्युत्पत्ति के अनुरूप कालिदास ने भी 'रघुवंश' के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ का संयोग शिव और पार्वती के अविच्छिन्न सहभाव के समान माना है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में लगभग सोलह आचार्य शब्द और अर्थ के सहयोग से काव्य का लक्षण स्वीकर करते हैं—

(१) 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस परिभाषा को प्रायः इन्हीं शब्दों में भामह, उद्भट, रुद्रट और आनन्दवर्धन स्वीकार करते हैं। तथा—

(२) 'साधु शब्दार्थ सन्दर्भ गुणालंकार भूषितम्'

[**वाग्भट्ट (प्रथम, द्वितीय**]

(३) तददौषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

[**मम्मट**, हेमचन्द्र]

इसी प्रकार धर्मसूरि, अच्युतराय, वामन, विद्याधर, क्षेमेन्द्र न्यायवागीश आदि के काव्यलक्षण शब्दार्थनिष्ठ हैं। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य एवं शाश्वत है—

'नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे' इसी रूप में साहित्य की सार्थकता है।

---

२. काव्यम्

कारिका :—

रूपकादि..........................काव्यम् ।।१-३।।

अनुवाद—दूसरे आलंकारिक रूपक आदि अर्थालङ्कारों को बाह्य कहते हैं। वे संज्ञा और क्रिया के सौन्दर्य को ही वाणी का अलङ्कार कहते हैं। वह काव्य निश्चय ही यह शब्द-सौन्दर्य (सौशब्द्य) है; क्योंकि अर्थ का सौन्दर्य इतना चमत्कारा-धायक नहीं होता है। किन्तु शब्द और अर्थ के अलङ्कार भेद से हमें तो दोनों ही अभिप्रेत हैं। (क्योंकि) शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं।

व्याख्या—शब्दालंकार की निष्पत्ति संज्ञा और क्रिया पदों की विशिष्ट योजना से होती है। संज्ञा और क्रिया यहाँ सामान्यतः शब्दमात्र के बोधक हैं।

सौशब्द्य से भामह का अभिप्राय यह है कि शब्द-सौन्दर्य ही काव्य है; क्योंकि अर्थ-सौन्दर्य शब्द-सौन्दर्य के समान चमत्कारकारक नहीं होता है।

व्युत्पत्ति से भामह का आशय चमत्कार विशिष्ट पदों की योजना से है। चमत्कार विशिष्ट शब्द का प्रयोग है तो शब्दालंकार और अर्थ का प्रयोग चमत्कार-जनक है तो अर्थालङ्कार।

संज्ञा विभक्तियों को **सुप्** और **क्रिया** विभक्तियों को **तिङ्** कहते हैं किन्तु यहाँ सुप् और तिङ् से अभिप्राय शब्दमात्र से है, जिसमें विशेषणादि अन्य शब्द के रूप भी आते हैं।

"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः" इस पंक्ति में प्रयुक्त **"नः"** शब्द साभिप्राय है। इसके द्वारा भामह यह बतलाना चाहते हैं कि हमें दोनों ही मत ग्राह्य हैं। यही नहीं पूर्वोक्त मत एकांगी हैं, काव्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों की सत्ता निर्विवाद सिद्ध है। एक के प्रयोग से काव्य में पूर्णता नहीं आती है। काव्य की रमणीयता के लिए दोनों ही ग्राह्य हैं।

आचार्य भामह ने काव्य का स्वरूप प्रस्तुत करते हुये अपने से पूर्ववर्ती आल-ङ्कारिकों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है। इस काव्य-लक्षण को लिखने से पूर्व वे इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि उनसे पूर्व

आलंकारिकों के दो वर्ग थे, उनमें से एक काव्य में अर्थालंकारों को महत्व देता था, तो दूसरा शब्दालङ्कारों को। उन्होंने अपने कथन के प्रमाण में जो दृष्टान्त—"**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्**" प्रस्तुत किया है—वह उभयनिष्ठ है। क्योंकि यह दृष्टान्त सामान्यतः अलंकारवाद का समर्थक है। क्योंकि रमणी का मुख स्वतः सुन्दर भी क्यों न हो, पर अलंकार के अभाव में वह पूर्णतः शोभायमान नहीं होता है। इसी प्रकार काव्य में भी सौन्दर्य के आधायक गुण आदि तत्वों के होने पर भी अलंकार के बिना उसका पूर्ण चमत्कार दृष्टिगत नहीं होता है। अर्थालंकारवाद के समर्थकों के मत में उपमा-रूपकादि अर्थालंकार ही काव्य की शोभा के जनक हैं। इस प्रसङ्ग में उनका तर्क यह है कि "काव्य जनित आनन्दानुभूति वस्तुतः अर्थप्रतीति के बाद ही होती है, अतः अर्थाश्रित चमत्कार ही उस आनन्दानुभूति का अव्यवहित उपकारक हो सकता है। इस भाँति अर्थालंकारों का महत्व असंदिग्ध है।

किन्तु अर्थालंकारवादियों के अनुसार सर्वप्रथम शब्द सुनाई देता है, तदनन्तर अर्थ प्रतीति होती है। इसलिये चित्त पर प्रथम प्रभाव शब्द का होता है और हृदय उसी से प्रभावित होता है। इसलिये काव्य में शब्दालंकार का अधिक महत्व है क्योंकि अर्थालंकार की प्रतीति अर्थ-बोध के अनन्तर होती है, इसलिए वह बाह्य या गौण है।

भामह ने इन दोनों विचारों को समन्वयात्मक दृष्टि से देखा है। उनके अनुसार काव्य में दोनों का महत्व है, एक के स्थान को दूसरा नहीं ले सकता है और न ही एक दूसरे में वे अन्तर्भुक्त ही हो सकते हैं। न केवल शब्द ही काव्य है और न केवल अर्थ ही। वे दोनों ही निरपेक्ष भाव से नहीं रह सकते हैं, अतः दोनों ही कवियों के लिए उपजीव्य हैं। काव्यप्रकाश के प्रदीप टीकाकार ने भी लिखा है—

"**शब्दवत् अर्थस्यापि कविसंरम्भज्ञाप्यत्वम्, अर्थस्य इव शब्दस्यापि रस प्रतीत्युपयोगित्वम्, अतः उभयाश्रितोऽपि उभयरूपोऽलङ्कार इति।**" अर्थात् शब्द के समान अर्थ भी कवि संरम्भगोचर होता है और अर्थ के समान शब्द भी रस प्रतीति में उपयोगी होता है। अतः उभयाश्रित होने से अलंकार भी दो प्रकार के हैं। इसी प्रकार का मत आचार्य कुन्तक का है, उनके अनुसार "कुछ लोगों का मत है कि कवि-कौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशयशाली केवल शब्द ही काव्य है और कुछ लोगों का मत है कि रचना-वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है—

"**केषाञ्चिन्मतं कवि कौशलकल्पित कमनीयातिशय शब्द एव केवलं काव्यम् इति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचना-वैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यम् इति।**"

[व० जी० १।७ की वृत्ति]

निष्कर्ष यह है कि भामह शब्द और अर्थ दोनों को काव्य में महत्वपूर्ण मानते हैं। इन दोनों के सहभाव का नाम ही साहित्य है। भामह ही नहीं अन्य अनेक

परवर्ती आचार्य काव्य में 'शब्दार्थों' को विशेष महत्व देते हुए "**शब्दार्थौ-काव्यम्**" स्वीकार करते हैं। यहाँ शब्द और अर्थ केवल शब्द और अर्थ के वाचक ही नहीं हैं अपितु उनके चारुत्व-हेतुओं के भी प्रत्यायक हैं। इस प्रकार भामह की दो मान्यतायें हैं, एक तो यह काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का महत्व है। दूसरी यह कि शब्द और अर्थ दोनों पर ही समानतः ध्यान देना चाहिए, क्योंकि "दोनों के सहभाव से ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि हो सकती है।" "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** का यही अभिप्राय है।

---

३. काव्यस्य प्रयोजनम्

ज्वलद्·························**परस्यापि** ॥१॥

अनुवाद—अलंकारों के कारण प्रकाशमान और दोषाभाव के कारण निर्मल काव्यकृति का सृष्टा महाकवि सरस काव्य की सृष्टि करता हुआ अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष, कल्पान्त तक रहने वाले विश्वव्यापी यश का विस्तार करता है ।१।

तत्कारित·························**राज्ञाम्** ॥२॥

अनुवाद—यदि उन नायकों के चरित्र को काव्यबद्ध करने वाले सुकवि न होते तो उनके द्वारा निर्मित इन्द्रमहल आदि के समान काल के द्वारा नष्ट हो जाने पर उनका नाम भी न होता ।२।

अन्योपकारकरणं·····················**वादिनामत्र** ॥३॥

अनुवाद—परमार्थतत्ववेत्तावादियों का इस विषय में कोई विवाद नहीं कि परोपकार करना विकास और महान् धर्म के लिए होता है ।३।

अर्थमनर्थो·······················**तदेव कविः** ॥४॥

अनुवाद—रुचिर देव-स्तुति का रचयिता कवि धन, विपत्तियों का नाश, असाधारण आनन्द अथवा जिस इष्ट वस्तु की कामना करता है, वह सब कुछ उसे प्राप्त होता है ।४।

तदिति पुरुषार्थ···············**काव्यममलमलम्** ॥५॥

अनुवाद—इसलिए पुरुषार्थ की पूर्ण सिद्धि चाहने वाले निपुण, सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थो के ज्ञाता, कवियों को ही निर्दोष काव्य के सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए ।५।

फलमिदमेव·······················**काव्यफलाः** ॥६॥

अनुवाद—क्योंकि ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान का यही फल है कि पवित्र व्याकरण, मीमांसा, न्यायशास्त्र आदि के द्वारा वाणी का संस्कार हो, उस वाणी का फल है सुन्दर काव्य ।६।

स्फारस्फुरद·······················**काव्यात्** ॥७॥

अनुवाद—महाकवि अपने काव्य के द्वारा सम्पूर्ण लोक से कमनीय, हिम के समान उज्ज्वल जाज्वल्यमान प्रलय के अनन्तर दूसरे कल्पों तक स्थायी यश को प्राप्त करता है ।७।

भर्तृहरि ने भी लिखा है कि कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु जरा-मरण से रहित यशः शरीर अमर रहता है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

अमरसदनादिभ्यो.........................**परं यशः ॥८॥**

भावार्थ—स्वर्गादि से उत्पन्न कीर्ति अनश्वर नहीं है, यदि होती भी है तो उसके नष्ट होने पर विनष्ट हो जाती है । इसलिए विश्व में व्यास आदि महाकवियों के अत्यधिक यश को देखकर कवि श्रेष्ठ काव्य के सृजन के लिए समाहित चित्त प्रयत्न करे । यही उसके लिए पर्याप्त है । (क्योंकि संसार में एक से एक बढ़कर कवि हुए हैं) ।८।

समीक्षा—संस्कृत साहित्य में काव्य के प्रयोजनों पर विस्तार से विचार हुआ है । शास्त्र और काव्य का कोई न कोई निश्चित प्रयोजन होता है, क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी सार्थकता ही क्या ?—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

अतः काव्य के प्रयोजनों का महत्व स्वयं सिद्ध है ।

आचार्य भरत ने सर्वप्रथम नाटक के प्रयोजनों का उल्लेख नाट्यशास्त्र (१।११३—११५) में किया है तदनुसार "नाटक धर्म, यश और आयु का साधक, कल्याणकारक, बुद्धिवर्धक एवं लोकोपदेशक होता है। इसके अतिरिक्त वह लोक-मनोरंजक एवं शोकपीड़ित तथा परिश्रान्तजनों का विश्रान्ति प्रदान करने वाला होता है।" भरत के बाद भामह ने और भी व्यापक रूप में काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया, और कुछ ऐसे तत्वों का उल्लेख किया जिनकी चर्चा भरत ने नहीं की थी । भामह के अनुसार-काव्य का सृजन "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ-चतुष्टय के अतिरिक्त कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए होता है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य-निबन्धनम् ॥"

—काव्यालङ्कार १।२

भामह ने आनन्द नामक नये तत्व का संकेत किया । "भामह पुरुषार्थ-चतुष्टय, यश एवं कला तथा व्यवहार में निपुणता की प्राप्ति को भी काव्य का प्रयोजन ठहराते हैं। इस प्रकार प्रेय के साथ ही साथ श्रेय (मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन बतलाकर उन्होंने काव्य में लोकोत्तर तत्व का समावेश किया एवं लोकोत्तर औदात्त्य को स्वीकार कर भामह ने उसे उच्चतर पीठिका प्रदान की ।" (भरत एवं भामह के

काव्यप्रयोजनों के अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह के आदर्श भरत रहे हैं। प्रो० राजवंशसहाय 'हीरा' ने लिखा है कि—

"भरत के धर्म्य एवं 'यशस्य' ही काव्यालङ्कार में 'धर्म' एवं कीर्ति के रूप में अवतरित हुए हैं। इसी प्रकार भरत के 'हित' एवं 'लोकोपदेशजनन' विशेषरण भामह के 'अर्थ' तथा 'मोक्ष' के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं। भामह ने 'आनन्दोपलब्धि' को प्रयोजन सिद्ध करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में सर्वथा नवीन तथ्य की व्यंजना की है। प्रायः सभी परवर्त्ती आचार्य किसी-न-किसी रूप से भामह के ही ऋणी रहे हैं।"

वामन ने काव्य के केवल दो प्रयोजन कीर्ति एवं प्रीति को स्वीकार किया है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीति हेतुत्वात्॥
अदृष्ट प्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात्॥

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १।१।५

इन दोनों तत्वों में से एक कविनिष्ठ तथा दूसरा पाठकनिष्ठ कहा जा सकता है। जैसा कि डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "उनकी वृत्ति से प्रतीति होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है।"

—काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका, पृ० १५

आचार्य वामन के अनन्तर रुद्रट ने काव्यप्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है। रुद्रट रसिकों को सहज रूप से चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति के अतिरिक्त अर्थोपशम, विपद् निवारण, रोगविमुक्ति एवं अभीष्ट वर की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघुमृदुनीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णादुरुत्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुर्क्ति वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्॥

रुद्रट काव्य का एक प्रयोजन यश भी मानते हैं, जैसा कि उनका कथन है कि—"महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है"—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥

इस श्लोक का शाब्दिक अनुवाद है — काव्य के द्वारा अल्पबुद्धि मानव को, बिना प्रयत्न कष्ट के, सुखपूर्वक धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

तत्कारितसुरसदन प्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयोराज्ञाम् ॥
स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम् ।
कल्पान्तस्थायि यशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात् ॥

रुद्रट के अनुसार अर्थप्राप्ति भी काव्य का एक प्रयोजन है—

अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥

अर्थात् "रुचिरदेव-स्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियों का नाश, असाधारण आनन्द, जिस किसी वस्तु की कामना करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है।"

निष्कर्ष रूप में रुद्रट यश, अर्थ, विपत्ति-रोग आदि का नाश, अभीष्ट की प्राप्ति तथा आनन्द को काव्य प्रयोजन मानते हैं।

रुद्रट की ये मान्यताएँ पूर्व परम्परा से प्राप्त हैं तथा परवर्ती मम्मट निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनों की प्रेरक हैं। मम्मट के मान्य काव्य प्रयोजन निम्न हैं—यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतर-क्षय, प्रीति या परनिवृ ति, कान्तासम्मित उपदेश—

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृ तये कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे ॥

मम्मट के इन प्रयोजनों में अर्थ और यश से रुद्रट के अर्थ और यश ही हैं। शिवेतरक्षतये विपद निवारण तथा रोगविमुक्ति का सुसंस्कृत रूप माना जा सकता है तथा रुद्रट का अभीष्ट वर की प्राप्ति मम्मट का व्यवहार ज्ञान है। असाधारण आनन्द (शमसमम्) मम्मट का सद्यः परनिवृ त्ति ही है।

परवर्ती काल में भामह तथा मम्मट की मान्यताओं का काव्य प्रयोजनों के प्रसङ्ग में निरन्तर समादर किया जाता रहा है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्री काव्य को सर्वथा सोद्देश्य मानते रहे हैं तथा रुद्रट भी इसके अपवाद नहीं हैं।

४. काव्यस्य हेतुत्रयम्

तस्यासार.....................................रभ्यासः ।

अनुवाद—काव्य के दोषों के निराकरण एवं गुण तथा अलंकारों के ग्रहण के द्वारा सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए, शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों की आवश्यकता सम्मिलित रूप में होती है ।

तस्य काव्यस्य.....................................इत्यर्थः ।

भावार्थ—उस काव्य के असारतत्व-दोषों का निराकरण तथा असमर्थादि दोषों के त्याग से तथा गुणों के ग्रहण से वक्रोक्ति तथा वास्तव (जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे—**वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्**) आदि अलङ्कारों के योग के कारण, सौन्दर्याधायकगुणों से युक्त काव्य के निर्माण में यह त्रैत-शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास ही हेतु है, मूल कारण है । यही उसका व्यापार है और दण्डी का भी मत है—

नैसर्गिकी.....................................काव्यसम्पदः ।

अनुवाद—पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त स्वाभाविक प्रतिभा, नाना शास्त्रों के परिशीलन से निर्मल ज्ञान और काव्य करने का सतत महान् (अमन्द) अभ्यास, ये तीन ही सम्मिलित रूप से श्रेष्ठ काव्य के प्रति कारण हैं ।

व्याख्या—दण्डी ने काव्य के इन तीन कारणों को सम्मिलित रूप से काव्य निर्माण का कारण माना है । जबकि पूर्ववर्त्ती आचार्य भामह ने प्रतिभा को प्राधान्य देते हुए काव्यज्ञ शिक्षा तथा अभ्यास को सहायक माना था, परन्तु दण्डी ने तीनों को समान रूप से काव्य का कारण माना है । मम्मट ने भी इन तीनों को काव्य का कारण माना है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। [का० प्रा० १।३]

तत्र शक्त्या.....................................चक्षुषा ।।

भावार्थ—काव्यरचना में शक्ति के द्वारा शब्द और अर्थ मन में आते हैं । उनमें से सार और असार (गुण और दोष) का ग्रहण और त्याग व्युत्पत्ति के द्वारा

होता है। अभ्यास के द्वारा शक्ति के उत्कर्ष का आधान होता है, यह शक्ति आदि का व्यापार है। दोष-त्याग और गुण-ग्रहण इन दो पदों का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए हुआ है। उसमें भी दोष का प्रथम प्रयोग काव्य में से दोष के निराकरण के प्राधान्य को सूचित करने के लिए हुआ है क्योंकि अनेक अलङ्कारों से अलंकृत काव्य भी एक ही दोष से दूषित हो जाता है, उदाहरणार्थ— अलंकृत वधू का मुख जैसे एक आँख के न होने पर दूषित होता है।

इस प्रकार काव्य रचना में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का महत्वपूर्ण योगदान रुद्रट एवं उनके टीकाकार नमिसाधु ने स्वीकार किया है। दोष-निराकरण और गुणग्रहण में भी टीकाकार ने दोष के निराकरण को महत्व प्रदान किया है। क्योंकि दोष के अभाव में एक काव्यगुण भी उसे उत्कर्ष प्रदान कर सकता है और उत्कृष्ट काव्य को एक ही दोष दूषित कर निन्दा का पात्र बना देता है। और दण्डी ने कहा भी है कि—

तदल्पमपि..............................दुर्भगम् ॥

अनुवाद—अतः काव्य में थोड़े से दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एक सुन्दर शरीर वाले व्यक्ति के किसी अङ्ग विशेष में श्वेत कुष्ठ का धब्बा जब दृष्टिगत होता है तब वही सौभाग्यरहित—निन्दा का पात्र हो जाता है।

व्याख्या—अतः काव्य में दोष परिहार के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि काव्य में एक छोटा सा दोष काव्य की उत्कृष्टता को समाप्त कर देता है। कहा भी है—'**एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोःकिरणेष्विवाङ्कः**''। इसी प्रसङ्ग में भामह ने भी लिखा है कि—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्यणा हि काव्येन दुः सुतेनेव निन्द्यते ॥

मनासि..............................शक्तिः ॥

अनुवाद—जिसके होने पर सुस्थिर चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के वाक्यों का स्फुरण होता है तथा जिसकी स्थिति होने पर शीघ्र ही अर्थ-प्रतिपादन में समर्थ पद स्फुटित होते हैं, उसको शक्ति कहते हैं।

व्याख्या—आशय यह है कि काव्य की रचना की प्रमुख हेतु शक्ति या प्रतिभा है। राजशेखर के अनुसार वही—''**सा (शक्तिः) केवल काव्यहेतुः**'' तथा भामह के अनुसार काव्य किसी प्रतिभाशाली की कृति है—''**काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।**'' भट्टतौत के अनुसार वही प्रतिभा है जो कि ''**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।**'' इस प्रकार एक वाक्य में कहा जा सकता है कि ''काव्य की उत्पत्ति का जो रहस्य है वह 'समाहित मन में अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का अनेकधा स्फुरण' मात्र ही है।''

असौ..**शक्तिरित्यर्थः** ॥

भावार्थ—इस शक्ति के द्वारा अविक्षिप्त चित्त में सदा अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण होता है और इसमें कठिनता रहित शीघ्र ही अर्थ प्रतिपादन समर्थ पदों की प्रतीति होती है। जिसके कारण हृदय में अनेक प्रकार के शब्द और अर्थ प्रतिभासित होते हैं—वह शक्ति है।

प्रतिभे..**सहजा** ॥

अनुवाद—इस शक्ति को प्राचीन दण्डी आदि आचार्यों ने प्रतिभा कहा है, वह शक्ति सहजा और उत्पाद्या भेद से दो प्रकार की है। पुरुष के साथ उत्पन्न होने के कारण इन दोनों में सहजा ही श्रेष्ठ (ज्यायसी) है।

उत्पाद्या..**परया** ॥

अनुवाद—उत्पाद्या तो बाद में होने वाली व्युत्पत्ति से बड़े प्रयत्न से सिद्ध होती है।

छन्दो..**समासेन** ॥

अनुवाद—छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति पद तथा पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान से उचित एवं अनुचित सम्यक् परिज्ञान—संक्षेप में यही व्युत्पत्ति है।

विस्तरतस्तु..**ततोऽन्यैषा** ॥

अनुवाद—तथा विस्तार से सर्वज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहते हैं। क्योंकि इस संसार में कोई भी ऐसा वाच्य तथा वाचक नहीं, जो काव्याङ्ग न हो।

अधिगत..**काव्यम्** ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण विश्व के पदार्थों के ज्ञाता तथा शक्तिमान् कवि को भी सहृदय (सुजन) तथा सुकवि के निकट रहकर निरन्तर रात-दिन काव्य का अभ्यास करना चाहिए।

समीक्षा—रुद्रट ने काव्य के निर्माण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित कारण माना है। रुद्रट के अनुसार प्रतिभा के दो भेद हैं—सहजा और उत्पाद्या। सहजा जन्मजात प्रतिभा है तथा काव्य का यही मूल भी है। उत्पाद्या अध्ययनजन्य कही जा सकती है। क्योंकि यह व्युत्पत्ति के द्वारा समुत्पन्न है। इसके द्वारा सहजा प्रतिभा का संस्कार होता है।

रुद्रट के इस कथन—"काव्य में असार वस्तु को दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लाने के कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण हैं—

तस्यासार निरासात् सार ग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥

का स्पष्ट प्रभाव मम्मट पर पड़ा है। इसीलिए मम्मट ने भी इन्हीं तीन तत्वों को काव्य का हेतु माना है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

इन दोनों कारिकाओं की तुलना करने पर हम कह सकते हैं कि रुद्रट का मम्मट पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, और बाद में रुद्रट को काव्य हेतुओं के प्रसङ्ग में प्रामाणिक भी स्वीकार किया गया है। मम्मट ने शक्ति एवं अभ्यास को यथावत् स्वीकार किया है, किन्तु व्युत्पत्ति को निपुणता के रूप में स्वीकारा है। निपुणता की व्याख्या में मम्मट ने जो कुछ लिखा है उस पर भी रुद्रट की इन पंक्तियों का प्रभाव स्पष्ट है—

छन्दोव्याकरण कला लोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।।

अतः काव्य हेतुओं की विचार परम्परा में रुद्रट का महत्व अक्षुण्ण है।

---

५. काव्यस्य शरीरम्

सूरयः..............................क्रियाविधिम् ।।

अनुवाद—भरत आदि प्राचीन आचार्यों ने वाणी के नाना प्रकारों में वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों तथा शब्दार्थालङ्कारादिकों के भेद से इस काव्यात्मक वाणी के निर्माण-प्रकार का वर्णन कर दिया है ।१।

सूरयः.............. ....काव्यान्येव ।।

भावार्थ—प्राचीन भरत आदि आचार्यों ने काव्य-निर्माण पद्धति को शास्त्रीय परिभाषाओं में वर्णित कर दिया है । क्रियाविधि को क्रियाकल्प कहा है ।

क्रियाकल्प को ही काव्यालङ्कार कहा है । काव्यलक्षणात्मक शास्त्र का निर्माण किया है । वाणी के वैदर्भी-गौड़ी आदि विभिन्न मार्गों का उल्लेख किया है । विचित्र नाना प्रकार के शब्दार्थालङ्कारादि से युक्त रीति काव्य की आत्मा ही है ।

तै शरीरं च..............................पदावली ।।

अनुवाद—भरतादि प्राचीन आचार्यों ने काव्य का स्वरूप भी बतलाया है । काव्य के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाले अलङ्कार गुण, दोष आदि का भी वर्णन किया है । इस पंक्ति में प्रयुक्त अलङ्कार शब्द उपलक्षणात्मक हैं, यहाँ अलङ्कारों से अभिप्राय अलङ्कार के गुण, दोष आदि से भी है । इष्ट सरस, मनोहर वर्णन करने योग्य अर्थ से युक्त शब्द को काव्य का शरीर कहा जाता है । **इष्ट अर्थ युक्त पद समुदाय को काव्य कहते हैं ।**

व्याख्या—काव्य में इष्टार्थ ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि पदों में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का होना भी नितान्त आवश्यक है । इष्टार्थ से दण्डी का आशय क्या है ? इसके उत्तर में हमारा विचार यह है कि वे इष्टार्थ का अर्थ चमत्कार करते हैं । चमत्कार से आशय लोकोत्तर आह्लाद से है । अलौकिक आनन्द के लिए शब्दार्थ का गुणालङ्कार सम्पन्न तथा दोषरहित होना भी आवश्यक है । आशय यह है कि "इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली को काव्य शरीर मानने वाले दण्डी के मत में रमणीयार्थयुक्त वाक्य ही काव्य होता है, वाक्य उस पद समुदाय को कहते हैं, जो योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त हो । अतः इनका लक्षण शब्द काव्यवादी सिद्ध होता है ।"

काव्यलक्षण के निर्माण प्रसङ्ग में दण्डी की परम्परा का अनुसरण करने वाले निम्न आचार्य हैं, जो काव्य पद का अर्थ केवल शब्द मानते हैं और शब्दपरक काव्य लिखते हैं। जैसे—

(१) **अग्नि पुराण**— संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्।

(२) **शुद्धौदनि**—रसादिमद् वाक्यं काव्यम्।

(३) **विश्वनाथ**—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

(४) **जगन्नाथ**—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

(५) **माणिक्यचन्द्र**— काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।

इह यानि..............................यतः शोभा ॥

भावार्थ—इस संसार में जो कुछ काव्य सम्भव हैं, उनके शरीर तथा उनका अलङ्करण विभिन्न प्राचीन आचार्यों ने संसार के काव्यज्ञान के लिए काव्यशास्त्र (क्रियाकल्प) में वर्णित किया है। काव्यशरीर का स्वरूप क्या है ? शब्द स्वरूप है। शब्द भी अर्थ से समन्वित होने के कारण। क्योंकि जैसे पुरुष के शरीर में धारण करने पर हार, केयूर आदि अलङ्कार शोभायमान होते हैं वैसे ही काव्यशरीर में शब्दात्मक होने पर भी उपमादि अलङ्कार धारण किये जाते हैं क्योंकि उनसे काव्य की शोभा होती है।

काव्यशोभा..............................विधीयते ॥

भावार्थ—काव्य की शोभा को समृद्ध करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं। इस अलङ्कार का लक्षण लिखने के अनन्तर उनका वर्णन किया जाता है। सुबन्त तिङन्त पदों की पंक्ति या श्रेणी का नाम पदावली है। उस पदावली से पूर्ण काव्य होता है, वाक्य और श्लोकादि उसके अवयव हैं। कवि का अभीष्ट अर्थ रघुवंशादि काव्यों में दृष्टव्य है। '**व्यवच्छिन्ना**' पद गमक रूप में स्वीकार किया है। काव्य इष्ट अर्थ से युक्त होता है। इष्टार्थ से युक्त पदावली प्रसिद्ध होने के कारण उसका अनुवाद कर अप्रसिद्ध शरीर का निर्माण किया जाता है।

काव्य-शरीर में पद समूह का महत्व है। वह पद समूह रमणीय और चमत्कार से पूर्ण होना चाहिए। उसमें अलङ्कारादि की योजना भी होनी चाहिए।

---

६. काव्यस्यात्मतत्वम्

काव्यस्यात्मा..............................मागतः ।।१।।

अनुवाद—काव्य का आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है। इसी से प्राचीन-काल में क्रौञ्चपक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक रूप में परिणत हुआ।

व्याख्या—आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा का पद प्रतीयमान रस को प्रदान किया है, उनके अनुसार "प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में वाच्यार्थ से अलग ही प्रतीत होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनाम् ।।"

यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, उस अर्थ को प्रकट करने वाली कवि की वाणी प्रतिभाविशेष को ही व्यक्त करती है। इस अर्थ को आनन्दवर्धन ध्वनि कहते हैं। तदनुसार वे वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि कहते हैं—**चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्योः प्राधान्यविवक्षा ।"**

विविध..............................स्थायिभावः ।।

भावार्थ—नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और सङ्घटना के प्रपञ्च के कारण मनोहर काव्य का सारभूत तत्व [आत्मा] वही प्रतीयमान रस अर्थ है। इसीलिए निषाद के वाण से विद्ध अतः मरणासन्न सहचरी के वियोग से कातर, जो क्रौञ्चपक्षी के करुणक्रन्दन से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक (करुणरस का स्थायीभाव) श्लोक—

(मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।)

रूप में परिणत हुआ। शोक करुणरस का स्थायी भाव है।

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुणरस का आविर्भाव होता है—"**इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।**" इस करुण रस का स्थायी शोक है, और विनष्टबन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति इसके आलम्बन होते हैं—

"शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।"

स एवेति .... पर्यवस्येते ॥

भावार्थ—वह तृतीय ही रसध्वनि है ऐसा मानना चाहिए। इसलिए रस ही वास्तव में आत्मा है, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का तो पूर्णतः रसध्वनि में ही पर्यवसान हो जाता है।

सरस्वती .... प्रतिभाविशेषम् ॥

अनुवाद—"उस आस्वादमय (रस-भावसम्पन्न) अर्थतत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी, कवियों के अलौकिक, अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा की विशिष्टता को व्यक्त करती है।"

तत् वस्तुतत्वं .... इति गण्यन्ते ॥

भावार्थ—उस प्रतीयमान अर्थतत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिभासमान, प्रतिभाविशेष को व्यक्त करती है। जिसके कारण नानाविध कवि परम्पराशाली इस संसार में कालिदास आदि दो-तीन अथवा पांच-छः ही महाकवि गिने जाते हैं।

समीक्षा—ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन काव्य की आत्मा का पद ध्वनितत्व को प्रदान करते हैं, उनकी ध्वनि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारकारी होने पर होती है। आनन्द ने स्पष्ट शब्दों में वाच्य से अधिक उत्कर्षक व्यंग्य को ध्वनि कहा है।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि कथितः ॥ [ध्वन्यालोक १।१३]

आशय यह है कि "जहाँ शब्द या अर्थ स्वयं साधन होकर साध्यविशेष किसी चमत्कारक अर्थ को अभिव्यक्त करे, वह ध्वनि काव्य है। वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से ध्वनि वैसे ही ध्वनित होती है जैसे चोट खाने पर घड़ियाल से निकली घनघनाहट की सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम ध्वनि।" ध्वनि सहृदय संवेद्यतत्व है। सहृदयता के अभाव में ध्वनि की प्रतीति सम्भव नहीं है। ध्वनि का आस्वाद केवल काव्यार्थतत्वज्ञ को ही हो सकता है, केवल पण्डित को ही नहीं। ध्वनिकार ने भी सहृदय भावक को ही ध्वनि का आस्वादयिता स्वीकार किया है।

---

७. कविप्रतिभा सहृदयता च

या शब्द..............................**सा प्रतिभा ॥**

भावार्थ—प्रतिभा, शब्दों के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलङ्कार तथा सुन्दर उक्तियों को तथा दूसरी भी अनेक काव्यसामग्री को हृदय के अन्दर प्रतिभासित करती है; अतः उसका नाम प्रतिभा है ।

अप्रतिभस्य..............................**श्रूयन्ते ॥**

भावार्थ—प्रतिभारहित व्यक्ति को प्रत्यक्ष दृश्यमान अनेक पदार्थ परोक्ष की तरह प्रतीत होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होते हैं । जैसे, मेधावीरुद्र एवं कुमारदास आदि महाकवि जन्मतः अन्धे थे, किन्तु उनके वर्णन प्रतिभा की अधिकता के कारण प्रत्यक्ष कृत प्रतीत होते हैं ।

सा च..............................**विषयभेदाच्च ॥**

भावार्थ—"वह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—१. कारयित्री और २. भावयित्री । कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है । भावयित्री प्रतिभा भावक का उपकार करती है, क्योंकि वह कवि के श्रम और भाव को सफल बनाती है । कवि के काव्य वृक्ष को सार्थक करती है (अतः उसका नाम भावयित्री है) अन्यथा इसके बिना कविता निष्फल रहती है । प्राचीन आचार्यों का कथन है कि 'कवि और भावक में अन्तर नहीं है क्योंकि कवि भावक और भावक कवि होता है ।' (कालिदास का मत इससे भिन्न है) । 'नहीं', ऐसा कालिदास का कथन है । कवित्व से भावकत्व भिन्न है, भावकत्व से कवित्व भिन्न है । स्वरूप के भेद से तथा विषय के भेद से अर्थात् इनमें से एक का कार्य शब्द रचना है और दूसरे का विषय का रसास्वादन ।"

कश्चिद्..............................**क्षमोऽन्यः ॥**

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—

"कोई तो कविता (वाचं) की रचना करने में निपुण है और कोई दूसरा उसके सुनने में ही चतुर है । तुम्हारी दोनों प्रकार की बुद्धि आश्चर्यजनक है । एक

में अनेक गुणों का समावेश नहीं होता है। क्योंकि एक पत्थर शालग्राम की शिला आदि सुवर्ण उत्पन्न करता है और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा का कार्य करता है।" अतः कवि एवं भावक में परस्पर अन्तर है। एक काव्य का विधाता है तो दूसरा उस काव्य का परीक्षक।

समीक्षा—इस काव्य मीमांसा के अंश में राजशेखर ने प्रतिभा के भेदों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रतिभा के दो भेद हैं—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा के द्वारा काव्य-रचना या निर्माण का कार्य किया जाता है और भावयित्री प्रतिभा काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करती है। राजशेखर ने अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि अन्य विद्वान् कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का एक ही कार्य मानते हैं और कवि तथा भावक को भी एक ही मानते हैं, किन्तु राजशेखर महाकवि कालिदास के मत का अनुसरण करते हुए समालोचक को कवि से भिन्न मानते हैं। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए वे दो पत्थरों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—सोने का उत्पन्न करने वाला पत्थर, उसकी परीक्षा करने वाले कसौटी-पत्थर से भिन्न होता है। यद्यपि दोनों पाषाण ही हैं।

---

८. काव्यशरीरस्य त्रैविध्यम्

पद्यं गद्य·································द्विधा ।।१।।

अनुवाद—वह काव्य तीन प्रकार का होता है—पद्य, गद्य और मिश्र (गद्य-पद्य का मिश्रित उभयरूप)। वह पद्य (प्रायः) चार चरणों वाला होता है और पद्य के दो अन्य प्रकार वृत्त एवं जाति नामक भी होते हैं।

केवल·····························व्यवस्थितमिति ।।

भावार्थ—केवल पद्यात्मक, केवल गद्यात्मक और गद्य-पद्य मिश्रित उभय रूप वाला इस प्रकार के अनेक भेदों में वह तीन प्रकार का निश्चित होता है।

"**शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली**" के रूप में हमने काव्य की परिभाषा की है, वह काव्य गद्य, पद्य और मिश्र भेद से तीन प्रकार का होता है। **गद्य** उसे कहते हैं जिसका दैनिक जीवन में हम व्यवहार करते हैं। इस गद्य काव्य में राग तत्व कम होता है, यह गद्य-काव्य बौद्धिक भाव व्यक्त करने का सहज साधन होता है। विश्वनाथ ने इसका लक्षण तथा इसके भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।।

उपर्युक्त कारिका में गद्य का लक्षण है—"**वृत्तगन्धोज्झित।**" **पद्य** का प्रयोग प्रायः रागात्मक भावों को व्यक्त करने के लिए होता है, यह छन्द में लिखा जाता है, अतः इसका लक्षण है—"**छन्दोबद्धं पदं पद्यम्।**" छन्द अनेक प्रकार के होते हैं और प्रायः ये चार चरण वाले होते हैं। इसीलिए आचार्य दण्डी ने "**पद्यं चतुष्पदी**" कहा है किन्तु पद्य के चरणों की संख्या नियत नहीं की जा सकती है क्योंकि अनेक छन्द तीन और छः चरणों वाले भी होते हैं।

आचार्य दण्डी ने पद्य के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—वे हैं **वृत्त** एवं **जाति**। अक्षरों के आधार पर जब छन्द में गणना की जाती है, उस छन्द को वृत्त कहते हैं, जैसे शिखरिणी आदि। जब मात्रा के आधार पर चरण निर्धारित होते हैं, उस छन्द को जाति कहते हैं।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
वृत्तमक्षरसङ्ख्यातं जातिर्मात्रा कृता भवेत् ।। छन्दोमञ्जरी । (११)

वृत्तों के भी सम, अर्धसम और विषम आदि अनेक भेद होते हैं । **मिश्र** काव्य गद्य-पद्यात्मक होता है, इसमें दोनों का मिश्रण होता है । नाटक और चम्पू आदि इसी प्रकार के काव्य हैं ।

छन्दोविचित्यां..................**काव्यसागरम्** ।।२।।

अनुवाद—वृत्त जाति आदि छन्दों का विभागोपविभाग का विस्तार से वर्णन 'छन्दोविचिति' नामक छन्द के ग्रन्थ में किया गया है । अतः गम्भीर काव्य रूपी सागर में सन्तरण करने के लिए छन्द-ज्ञान-विद्या नौका के समान है ।

व्याख्या—काव्यरूप सागर में प्रवेश कर शब्दार्थ रूपी रत्नों की खोज करने वाले मनुष्य के लिए छन्दोज्ञान नौका के समान है, जिस प्रकार मनुष्य नौका के द्वारा सागर का सन्तरण करता है उसी प्रकार काव्य रूपी सागर को पार करने के लिए छन्द नाव के समान है । 'छन्दोविचिति' (छन्दांसि विचीयन्ते लक्षणत उदाहरणतो भेदप्रभेदतश्च निरुच्यन्ते यस्यां सा छन्दोविचिति) नामक एक छन्द विषयक ग्रन्थ दण्डी का था, जो आज अप्राप्य है, उसी का नाम इस कारिका में आया है । इसी ग्रन्थ के आधार पर प्रसिद्ध है कि **त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च**" ।

तयो......................................**भावः** ।।

भावार्थ—उन वृत्त और जाति नामक छन्दों के भेदोपभेद वक्रादि और आर्या आदि छन्दों के लक्षणादि का पूर्ण विवरण 'छन्दोविचिति' में दिया है । लक्षणादि का प्रतिपादन किया है । कहाँ ? छन्दादि का संग्रह जहाँ या जिसके द्वारा, ऐसी कृति छन्दोविचिति में है । वह छन्द विद्या पद्य-लक्षण काव्य-शरीर की साधिका है । जो कुछ इसके द्वारा निर्मित होता है वह भी सादर दृष्टव्य है । वक्रोक्ति के अभ्यास से श्रोताओं का मनोरंजन करती है । काव्यरूप सागर क्योंकि उसी के समान गम्भीर है—भाव और अर्थ की गम्भीरता के कारण । सूक्ति रूपी रत्नाकर होने के कारण । बुद्धिहीनों के लिए विरसता का आधान करने के कारण । काव्यरूपी सागर में प्रविष्ट होने की इच्छा वाले के लिए स्वयं रचना के लिए अथवा दूसरों के रचित काव्य का ज्ञान करने की इच्छा वालों के लिए, वह छन्दोविचिति विद्या नौका स्वरूप है । यह भी ज्ञातव्य है । यह भाव है ।

अपादः पदसन्तानो गद्यम्............**इत्यसङ्करः** ।।३।।

अनुवाद—जिसमें चरण व्यवस्था नहीं है, पाद रहित पदसुवन्त-तिङन्त आदि के समुदाय को गद्य कहते हैं । गणमात्रा नियत पद्य का चतुर्थांश पाद कहा जाता है । उस पाद से रहित सुबन्तादि समुदाय का नाम गद्य है ।

भावार्थ—जिसमें पाद या पाद-व्यवस्था नहीं है, पाद का अभाव ही अपाद है, पाद का स्वभाव जिसमें नहीं है, यह अर्थ है । इस प्रकार के लक्षण वाला गद्य होता है । पद्य तो पादस्वरूप वाला होता है । दोनों का स्वरूप भिन्न है ।

मिश्राणि..................चम्पूरित्यभिधीयते ।।४।।

अनुवाद—आचार्य दण्डी निर्दिष्ट मिश्र काव्य में नाटक आदि दृश्य काव्य का समावेश होता है । नाटक आदि दृश्य काव्य को मिश्रकाव्य कहते हैं, उन नाटकों का विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र आदि अन्य ग्रन्थों में है । श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत भी कुछ अन्य मिश्र काव्य होते हैं उन्हें **चम्पू** काव्य कहा जाता है ।

किं नाटकादि..........................दमयन्त्यादि ।।

भावार्थ—क्या नाटक आदि ही को मिश्र काव्य कहा जा सकता है ? नहीं । गद्य-पद्य का मिश्रण मिश्र काव्य है । गद्य-पद्य का विकार, गद्यपद्यात्मक मिश्र काव्य होते हैं । जैसा कि कहा है—चम्पू भी है । इस **चम्पू** नामक काव्य को मिश्र काव्य कहा जाता है । **'काचिद्'** शब्द का प्रयोग असाकल्यार्थ में है अर्थात् गद्य-पद्यात्मक समस्त काव्य चम्पू नाम से अभिहित नहीं किये जा सकते हैं । यह आख्यायिका भी गद्य-पद्य का मिश्रित रूप है, जैसे कि चम्पू । किन्तु बह मिश्र काव्य नहीं है । गद्य-पद्यात्मक काव्य को विरुद भी कहते, जैसे कि जातकमाला और दमयन्त्यादि ।

समीक्षा—दण्डी के अनुसार **"पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्"** काव्य के गद्य, पद्य और मिश्र नामक तीन भेद हैं । इन भेदो में से गद्य और पद्य का विवेचन किया जा चुका है । काव्य का तीसरा भेद मिश्र है । दृश्य काव्यों में नाटक आदि मिश्र काव्य हैं । इनका वर्णन नाट्यशास्त्र में विस्तार से किया गया है । किन्तु श्रव्य काव्य के अन्तर्गत भी मिश्रकाव्य मिलते हैं, जिन्हें **'चम्पू'** कहते हैं । इस चम्पू काव्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का आधिक्य होता है, अन्यथा आख्यायिका आदि में भी दो-चार पद मिल जाते हैं और उन्हें भी मिश्र काव्य कहा जाना चाहिए—"**पद्यप्राचुर्यं गद्यसमकक्षतयाऽपेक्ष्यते, अन्यथाऽऽख्यायिकादावपि कतिपयपद्यसद्भावेन मिश्रसंज्ञकत्वप्रसक्तिः ।**" किन्तु आख्यायिका आदि को मिश्र काव्य नहीं कहा जाता है । चम्पू काव्य के समान ही "**गद्य-पद्यमयीराजस्तुतिर्विरुदमुच्यते**" विरुद भी मिश्र काव्य है ।

उपर्युक्त कारिका में नाटकादि शब्द से आशय—नाटक, प्रकरण, भाण, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी, प्रहसन आदि दश रूपक से है—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।। [सा० द० ६।३]

तथा अठारह उपरूपक

"नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेत्यपि ।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ।।" [सा० द० ४।६]

ग्रहण किये गये हैं ।

९. भाषाभेदनिबन्धनं चतुर्विधं काव्यशरीरम्

तदिदं वाङ्मयं..........................चतुर्विधम् ।।१।

अनुवाद—पुनः इस साहित्य को विद्वान् भाषाभेद के आधार पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र नामक विविध भाषायुक्त चार प्रकार का कहते हैं।

यत्.....................................मिश्रयोर्भेदः ।।

भावार्थ—जिस काव्य शरीर को पहले तीन प्रकार का कहा था, वही यह वाङ्मय काव्य शरीर पुनः भाषा के आधार पर चार प्रकार का है। पुनः वही विविध भाषाओं के मिश्रण के कारण प्रत्येक चार प्रकार का कहा जाता है। संस्कृत में पद्य काव्यशरीर शुद्ध, प्राकृत में शुद्ध और उनसे मिश्र। इस प्रकार गद्य और मिश्र काव्य शरीर का विचार करना चाहिए। पहले गद्य-पद्य से मिश्र काव्य कहा है, इस समय संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से युक्त विविध भाषाओं के मिश्रण में। यही दोनों मिश्र काव्यों का अन्तर है।

पहले गद्य-पद्य के मिश्रण से निर्मित मिश्र काव्य का विवेचन किया था, सम्प्रति भाषा भेद के आधार पर चार प्रकार के काव्य का विवेचन कर रहे हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र काव्य। काव्यशास्त्री इस प्रकार भाषा भेद के आधार रप वाङ्मय को चार भागों में विभक्त करते हैं। जैसा कि भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में लिखा है—

"संस्कृतेनैव कोप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः।
शक्यो योजयितुं कश्चिदपभ्रंशेनवा पुनः ।।
पैशाच्या शौरसेन्या च मागध्यान्या निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन।"

संस्कृतं.............................प्राकृतक्रमः ।।२।।

अनुवाद एवं व्याख्या—संस्कृत उस भाषा का नाम है जिसे देवों ने अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया तथा जिसका यास्क, पाणिनि आदि ऋषियों ने प्रकृतिप्रत्ययादि द्वारा विवेचन किया था। प्राकृत-सामान्यजन जिसका प्रयोग करें अथवा जो प्रकृति-संस्कृत से उत्पन्न हो, उसे प्राकृत कहते हैं। वह शब्द अनेक प्रकार के हैं,

जैसे—तद्भव, तत्सम तथा देशी। **तद्भव**-शब्द वह है जो संस्कृत से निर्मित हो, किन्तु बिल्कुल संस्कृत ही न रहा हो, जैसे कर्ण के स्थान कण्ण। **तत्सम** शब्द वह है जिसका आकार परिवर्तित नहीं हुआ है, केवल जिसकी विभक्ति का लोप हुआ हो, जैसे—कीर, गौ आदि। **देशी** शब्द वह है जिसका मूल संस्कृत में मिलना कठिन हो जैसे मौनी।

महाराष्ट्राश्रयां......................................यन्मयम् ।।३।।

अनुवाद एवं व्याख्या—प्राकृत के विभिन्न भेद हैं, उनमें महाराष्ट्री प्राकृत सर्वश्रेष्ठ है ऐसा विद्वानों का विचार है। क्योंकि महाराष्ट्रीप्राकृत में ही प्रवरसेन रचित सेतुबन्धादि काव्य हैं तथा महाराष्ट्री प्राकृत में चमत्कारपूर्ण सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं, अतः यह प्राकृत सूक्ति रत्नों का सागर है। आशय यह है कि महाराष्ट्री प्राकृत अन्य प्राकृतों में सर्वश्रेष्ठ है, उसकी श्रेष्ठता के कारणभूततत्व उसके काव्य एवं उसमें निहित चमत्कारपूर्ण सूक्तियाँ हैं।

शौरसेनी......................................सन्निधिम् ।।४।।

अनुवाद एवं व्याख्या—शूरसेन देश की प्राकृत भाषा शौरसेनी, लाट देश की लाटी, गौड देश की भाषा गौडी कही जाती है। इन स्थानों के निवासी जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, उन्हें क्रमशः शौरसेनी, लाटी और गौडी प्राकृत कहते हैं। शौरसेनी के विषय में भागवत में लिखा है कि—

शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुरान् शूरसेनाँश्च विषयान् बुभुजे पुरा।।

कृष्ण के मातामह का नाम शूरसेन था, उसका राज्य मथुरा के आसपास था और प्रान्त भाग की प्राकृतभाषा-शौरसेनी कहलाती है।

गौडी बङ्गदेश के समीपवर्ती भाग की बोली है। शब्दकल्पद्रुम का मत है कि—

बङ्गदेशं समारभ्य भुवने शान्तगं शिवे।
गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः।

लाटदेश कर्णाटक के निकटवर्ती प्रान्त का नाम है। कहा भी है—

ददौ तस्मै सपुत्राय प्रीत्या वीरवराय च।
लाटदेशे ततो राज्यं स कर्णाट युतो नृपः।।

इस कारिका में प्रयुक्त **तादृशी** शब्द का अभिप्राय यह है कि महाराष्ट्री के समान ही विभिन्न देशों के नामों के आधार पर मागधी, अवन्ति, प्राच्या आदि अन्य प्राकृतें भी हैं, जैसाकि नाट्यशास्त्र में लिखा भी है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेनार्धमागधी।
बाह्लीकादाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः।।

शूरसेना.....................................भवन्ति ।।

भावार्थ—शूरसेन देशाश्रित भाषा शौरसेनी, गौडदेशाश्रित गौडी, लाट देश में प्रयुक्त लाटी और अन्य पाञ्चाली, मागधी आदि उसी प्रकार की सामान्य भाषा प्राकृत नाम से ही व्यवहृत होती हैं किन्तु व्याकरणादि शास्त्र में अपभ्रंश संस्कृत से भिन्न भाषा सामान्य को कहा जाता है। इनका कहाँ व्यवहार होता है—नाटकादि में। इस प्रकार प्राकृतमयी चार भाषायें होती हैं।

आभीर.................................तयोदितम् ।।५।।

अनुवाद एवं व्याख्या—काव्य में आभीर आदि जातियों के द्वारा व्यवहार में आने वाली भाषायें अपभ्रंश कही जाती हैं। किन्तु यह केवल काव्यविषयक नियम है, व्याकरणादि शास्त्रों में तो अपभ्रंश संस्कृत से भिन्न भाषासामान्य को कहा जाता है।

अपभ्रंशो.............................चतुर्विधम् ।।६।।

अनुवाद—अपभ्रंश भाषा भी प्राकृत की तरह चार प्रकार की मानी जाती है। जैसा कि कहा भी है—

"तद्भव, तत्सम, देशी, सर्वशब्द सामान्य प्राकृत की तरह अपभ्रंश भाषा भी चार प्रकार की जानना चाहिए।"

समीक्षा—आचार्य दण्डी ने देश के आधार पर प्राकृतों का निर्देश किया है, जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि। किन्तु इस कारिका में '**जातिनामोपलक्षित**' भाषाओं को अपभ्रंश का नाम दिया है। काव्य में आभीर आदि जातियों के द्वारा प्रयोग में आने वाली भाषायें अपभ्रंश हैं। अपभ्रंश में भी शब्द तद्भव, तत्सम और देशी नामक होते हैं। नाट्यशास्त्र १८।३ में भी इन शब्दों का निर्देश इस प्रकार है—

त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ।।

प्राकृत के समान ही अपभ्रंश के भी प्रमुख चार भेद हैं।

भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम अपभ्रंश का प्रयोग भामह ने काव्यालङ्कार १।१६ में किया है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इतित्रिधा ।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्य के निम्न भेद हुए—

(क) छन्द के आधार पर—

(१) गद्य, (२) पद्य, (३) मिश्र।

(ख) भाषा के आधार पर—

(१) संस्कृत, (२) प्राकृत, (३) अपभ्रंश।

१०. काव्य प्रबन्धस्य प्रकाराः

मूलकारिका

मुक्तकं..............................पद्यविस्तरः ॥१॥

अनुवाद—मुक्तक, कुलक, कोश, संघात आदि महाकाव्य के अङ्गभूत हैं अतः इनका विस्तृत पद्य विस्तार नहीं किया गया है।

व्याख्या—प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य में मुक्तक तथा कुलक साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण वे साक्षात् अङ्ग हैं तथा कोष और संघात तत्तद्वर्णन में आ जाते हैं अतः वे भी अङ्ग हो जाते हैं। विद्वानों ने **मुक्तक** का लक्षण इस प्रकार किया है—

(१) मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कार क्षमः सताम्।

(२) अन्यानपेक्ष एकश्लोकनिबन्धो मुक्तकम्॥

अर्थात् स्वयं अपनी सीमाओं में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ एक पद या श्लोक मुक्तक कहलाता है, वह अन्य निरपेक्ष रहता है।

कुलक—अनेक या पाँच पद्यों में किसी एक बात का वर्णन हो वह कुलक कहलाता है—

(१) "अनेक पद्येनैकक्रियाऽन्वितेनैकवाक्यार्थकथनं कुलकम्:"

अथवा

(२) द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च **पञ्चभिः** कुलकं **मतम्**॥

कोष—अन्यान्य श्लोकानपेक्षी श्लोकों के समूह का नाम कोष है, यह श्लोक समूह एक कवि का भी हो सकता है और अनेक कवियों का भी—

(१) कोषः श्लोक समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
व्रज्यात्क्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः॥

अथवा

(२) "असंहतार्थानाम् एककवेरनेककवीनां वा वाक्यानां काव्यात्मनां निबन्धः कोषः।"

संघात—कल्पित कथा से निर्मित एक छन्द में निबद्ध पद्य समूह का नाम संघात है—

(१) "कल्पितवस्तुकः एकच्छन्दोनिर्व्यूढः पद्यसमुदयः संघातः।"

अथवा

(२) "यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये सङ्घातः सनिगदितः।"

वृत्ति

एक श्लोकः.........................**पटवत्** ।। (काव्यादर्श १।१३)

भावार्थ—एक श्लोक में ही पूर्ण अर्थ वाली, स्वतन्त्र श्लोकान्तर से निरपेक्ष रचना का नाम मुक्तक है। एक क्रिया के द्वारा परस्पर सापेक्ष पूर्ण अर्थ वाले किन्तु प्रत्येक श्लोक में जिसका अर्थ पूर्ण नहीं ऐसे अनेक श्लोकों के समूह का नाम कुलक है। नाना आधार वाले, भिन्न क्रिया वाले स्वतन्त्र श्लोक जो कि कोश की भाँति एकत्र हैं, स्थापित हैं, उसे कोश कहते हैं। एक आधार को, वर्षा आदि के वर्णन में समूह रूप में प्रवृत्त भिन्न क्रिया वाले श्लोकों के समूह को संघात कहते हैं। इस प्रकार मुक्तक आदि काव्य के चारों प्रकारों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है, विशिष्ट रूप से पृथक्-पृथक् लक्षणों के द्वारा नहीं कहा है। न कहने का कारण क्या है ? सर्गबन्ध के अंश होने के कारण। सर्गबन्ध के अंश रूप हैं, उनका स्वभाव एकदेशी है, उनका भाव। इसलिए वे संग्रहीत मात्र हैं। मुक्तकादि के अभाव में सर्गबन्ध विकसित नहीं होता है, जैसे कि तन्तु के अभाव में वस्त्र।

आशय यह है कि मुक्तक आदि महाकाव्य के अङ्गभूत हैं, अतः उनका विशिष्ट वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। महाकाव्य का विकास इन सभी के योग से ही होता है। वस्त्र के लिए जैसे तन्तु आवश्यक हैं, वैसे ही महाकाव्य के लिए मुक्तक कुलक आदि।

कारिका

सर्गबन्धो.........................**तन्मुखम्** ।।२।। (काव्यादर्श १।१४)

अनुवाद—अनेक सर्गों में जहाँ कथा का वर्णन हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। उसका लक्षण यह है—वह अशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश द्वारा प्रारम्भ होता है।

वृत्ति

यदेतत्.........................**प्रतिपत्तव्यम्** ।।

भावार्थ—जो यह गुणों तथा रचना के आधार पर महाकाव्य प्रसिद्ध है, वह सर्गबद्ध जानना चाहिए।

महाकाव्य सर्गबन्ध रचना है। सर्ग नामक परिच्छेद विशेष के द्वारा इसकी रचना होती है, इसका आकार बाँधा जाता है, अतः इसे सर्गबन्ध कहते हैं। अतः अनेक सर्गों वाली सर्गबन्ध रचना का नाम महाकाव्य है। इस महाकाव्य का लक्षण स्वरूप कहा जाता है। उस महाकाव्य का प्रारम्भ आशीः आशीर्वाद अथवा इष्ट जन या शुभ की इच्छा से हो, या नमस्कार-प्रणाम से हो, या किसी वस्तु के

अर्थ के निर्देश या कथन के द्वारा किया जाता है। इस तीन प्रकार के विकल्प से काव्य प्रारम्भ होना चाहिए।

महाकाव्य अनेक सर्गों वाली एक रचना है, इसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं, प्रायः संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य बाईस-तेईस सर्गों वाले हैं किन्तु हरविजय जैसे महाकाव्य अधिक सर्गों वाले भी हैं। इस महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण भी होता है, इस मंगलाचरण के द्वारा कवि काव्य की निर्विघ्न समाप्ति की कामना करता हुआ स्तुति आदि करता है। यह मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तु निर्देशात्मक होता है।

कारिका

इतिहास..नायकम् ॥३॥

अनुवाद—इस महाकाव्य की रचना किसी ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी विशिष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिए। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का फलदायक होना चाहिए, यही नहीं महाकाव्य का नायक बुद्धिमान् तथा उदात्त होना चाहिए।

वृत्ति

इतिहास..तत्तथा ॥

भावार्थ—इतिहास प्राचीन वृत्त को कहते हैं, उसकी प्रतिपादक कथा रामायणादि इतिहास कथा है, उनसे उत्पन्न कथा का आश्रित काव्य इतिहास कथाश्रय महाकाव्य यह आशय है। क्या इतिहास की कथा पर ही आश्रित महाकाव्य लिखना चाहिए ? ऐसा नहीं—अन्य कथाआश्रित भी काव्य रचना हो सकती है अथवा इतिहास की कथा के आश्रय से भिन्न गुणों से सम्पन्न राजा आदि के उच्च चरित्र आदि लक्षणों के आधार पर भी। इससे महाकाव्य की कथा का आधार दो प्रकार का कहा है—इतिहासाश्रित या सदाश्रित। काव्य के उद्देश्य के चार विषयों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—चतुर्वर्ग फल को उद्देश्य मानकर प्रणीत काव्य चारों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि का वर्ग—वर्ग का अर्थ है समूह, वही है फल, पुरुषार्थ स्वरूप होने के कारण। अभ्युदय और निश्रेयस् का हेतु है धर्म। विद्या, भूमि आदि का न्यायपूर्वक अर्जन, अर्जितों का रक्षण अर्थ है। विषयोपभोग काम को कहते हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमानकालिक सांसारिक दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष है उससे पूर्ण उसका विषय होने के कारण। यहाँ यह आवश्यक नियम नहीं है कि चारों पुरुषार्थों की योजना अनिवार्यतः ही हो। यथासम्भव कहीं चतुर्वर्ग, कहीं त्रिवर्ग की प्राप्ति होनी चाहिए। महाकाव्य में नायक को चतुर तथा उदात्त होना चाहिए। चतुर का अर्थ है कुशल, प्रवीण, उत्साह शक्ति आदि के योग से। उदात्त से आशय यह है कि नायक उदारता, त्याग आदि के आतिशय्य सम्बन्ध से नायक विपक्ष-प्रतिपक्ष का विजय की इच्छा वाला। दोनों का ही नायक होने के कारण। जिसमें हो वह वैसा महाकाव्य होता है।

व्याख्या—महाकाव्य की कथावस्तु के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने भी लिखा है कि (१) कथावृत्त ऐतिहासिक तथा सदाश्रित होना चाहिए—"**इतिहासोद्भवंवृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्**"। इतिहास से आशय है महाभारत, रामायण तथा अन्यान्य पुराणादि से गृहीत कथावस्तु। इस ग्रन्थ में वर्णित कोई पात्र काव्य का नायक बन सकता है, किन्तु नायक का चरित्र उदात्त होना चाहिए। सज्जन आश्रित होना चाहिए।

किन्तु यह अनुलघंनीय नियम नहीं है, इतिहास प्रसिद्ध न होने पर भी किसी सत्पुरुष को प्रधान नायक बनाकर महाकाव्य का सृजन किया जा सकता है।

पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष महाकाव्य के प्रयोजन के रूप में अपेक्षित हैं। महाकाव्य का फल धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग की सिद्धि मान्यता प्राप्त है। इसी फल को उद्देश्य बनाकर महाकाव्य का सृजन किया जाता है। "उसमें—धर्म की प्राप्ति भगवान् के चरणारविन्दों की स्तुति द्वारा, अर्थ की प्राप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध, कामप्राप्ति अर्थ द्वारा तथा मोक्षप्राप्ति काव्यजन्य धर्मार्थ-कामरूप फलों के विषय में अनासक्ति करने से सिद्ध होती है।"

महाकाव्यों के नायक को चतुर तथा उदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। नायक का शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रुढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

[दशरूपक २।१–२]

कारिका

नगरार्णव ························ धिनोति न ।।४-१०।।

अनुवाद—"महाकाव्य नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य का उदय तथा अस्त, उद्यान और जलक्रीड़ा, मधुपान तथा प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से युक्त होना चाहिए।४।

यह महाकाव्य विप्रलम्भ श्रृंगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्रणा, दूतत्व तथा प्रयाण, युद्ध और नायक के जय-लाभ आदि के प्रसङ्गों से सम्पन्न होना चाहिए।५।

यह काव्य विभिन्न वृत्तान्तों से अलंकृत तथा विस्तृत वर्णन से पूर्ण, रस और भाव के नैरन्तर्य से समन्वित हो। इसके सर्ग बहुत लम्बे-लम्बे न हों। सर्गस्थ छन्द भव्यवृत्त तथा अच्छी सन्धि से युक्त होने चाहिए।६।

महाकाव्य के सर्गों का अन्तिम श्लोक सदैव भिन्न वृत्त वाला होना चाहिए। यह काव्य लोकरंजक और श्रेष्ठ अलङ्कारों से अलंकृत होना चाहिए। इन विशेषताओं से सम्पन्न उत्तम काव्य विभिन्न कल्पों तक स्थिर रहता है।७।

महाकाव्य के उपर्युक्त अंगों में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें वर्ण्य विषयवस्तु रूप सम्पत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य प्रेमियों के हृदय को आकृष्ट करता है, तो वह काव्य दोष पूर्ण नहीं होता है ।८।

सर्वप्रथम नायक के गुणों—शौर्य, कुल समृद्ध आदि का वर्णन करे, तदनन्तर उसके शत्रु-प्रतिनायक आदि की पराजय निराकरण-उच्छेद आदि का वर्णन करना चाहिए । यह वर्णन की रीति स्वभावत: सुन्दर होती है ।६।

शत्रु के भी वंश, पराक्रम तथा विद्वत्ता आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना मुझे (दण्डी को) अधिक पसन्द है ।१०।

गद्य-काव्य

अपाद..................भेदकारणम् ।।११–१३।।

अनुवाद—चरण रहित पद परम्परा या समूह का नाम गद्य है । (गण मात्राओं में बद्ध पद्य का चतुर्थांश पाद कहा जाता है, उससे रहित सुबन्त एवं तिङन्त समुदाय को गद्य कहते हैं) । गद्य के दो भेद हैं—आख्यायिका तथा कथा । उसमें आख्यायिका का निम्न लक्षण है ।११।

अनुवाद—केवल नायक द्वारा वर्णित गद्य को आख्यायिका कहा जाता है किन्तु कथा, नायक अथवा किसी अन्य पात्र द्वारा वर्णित हो सकती है । वक्ता नायक द्वारा अपने गुणों का स्वयं वर्णन करना सदोष नहीं है । आशय यह है कि "अपने में वास्तव में विद्यमान गुणों का वर्णन आत्मश्लाघा नहीं है । आत्मश्लाघा तो वहाँ होती है, जहाँ अपने में गुण तो न हो किन्तु वर्णन हो" ।१२।

उपर्युक्त नियम प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त है किन्तु दण्डी काव्यादर्श (१।२५) में इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि—

परन्तु आख्यायिका में भी अन्य पात्रों द्वारा वर्णन प्राप्त होने के कारण इस नियम का उल्लङ्घन देखा गया है । इसलिए अन्य पात्र द्वारा या स्वयं नायक द्वारा वर्णन-कथन आख्यायिका और कथा के भेद का आधार-कारण माना जा सकता है ।१३।

वृत्ति

य: परेण........................अत्र कवे: ।।

भावार्थ—जो दूसरे (भामह) ने नियम बनाया है कि आख्यायिका नायक के द्वारा ही वाच्य होती है, वह नियम नहीं है । क्योंकि उस आख्यायिका में भी, (केवल कथा में ही नहीं) नियम का उल्लङ्घन, नायक के द्वारा ही आख्यायिका वाच्य होती है, इस नियम का अभाव देखा गया है, प्राप्त होता है । दूसरों के द्वारा कथित होने, नायक के अतिरिक्त उसके अनुचरादि के द्वारा आख्यायिका कहने से । हर्षचरित आदि आख्यायिकाओं में दूसरों के द्वारा नायक के चरित्र के कथन दृष्टिगत होने के

कारण, ऐसा हमारा मत है। सर्वथा कवि ही यहाँ वक्ता होता है अथवा उसके मुख से नायक ही वक्ता हो, यहाँ यह कवि का अपना अधिकार है।

व्याख्या—भामह ने कथा एवं आख्यायिका का लक्षण इस प्रकार किया है—

गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्‌वासाऽऽख्यायिका मता ।१।२५
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ।।१।२६
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्‌वासवत्यपि ।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा ।।१।२८
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः ।।१।२९

अर्थात् "गद्य से युक्त संस्कृत की रचना आख्यायिका कहलाती है जिसके शब्द, अर्थ एवं समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य हों, विषय उदात्त हो और जो उच्छ्‌वासों वाली हो। उसमें नायक अपने घटित (वृत्त) चरित्र को स्वयं कहता है; समय-समय पर भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपरवक्त्र (छंद रहते हैं)·········संस्कृत, असंस्कृत (प्राकृत) या अपभ्रंश की रचना, जिसमें न तो वक्त्र अपरवक्त्र (छंद) हों, न उच्छ्‌-वास, कथा कहलाती है। उसमें अपना चरित्र स्वयं नायक नहीं (कहता), बल्कि दूसरे कहते हैं, कोई कुलीन व्यक्ति अपना गुण आप ही कैसे कहेगा।"

भामह के उपर्युक्त कथन से आख्यायिका एवं कथा का अन्तर इस प्रकार है—

(१) आख्यायिका संस्कृत में लिखी जाती है, जबकि कथा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में।

(२) आख्यायिका में वक्त्र अपरवक्त्र छंद होते हैं जबकि कथा इनसे रहित होती है।

(३) आख्यायिका में उच्छ्‌वास होते हैं कथा उच्छ्‌वास रहित।

(४) आख्यायिका में नायक स्वयं चरित्र का वर्णन करता है जबकि कथा में अन्य किसी के द्वारा वर्णन होता है।

दण्डी ने भामह की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी भामह के कथन—

"स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः।"

की आलोचना की है। दण्डी ने लिखा है कि—

"स्वगुणाविष्क्रया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः"

अर्थात्—"उच्च वंशीय कथानायक अपने मुँह से अपना वर्णन किस प्रकार करेगा? आत्मश्लाघा करना भले आदमी को किस प्रकार पसन्द आवेगा?" इस आशंका का उत्तर देते हुए दण्डी कहते हैं कि "अपने में वस्तुतः वर्त्तमान गुणों का वर्णन तो आत्मश्लाघा नहीं है। आत्मश्लाघा तो अवर्तमानगुणप्रख्यापन को कहते हैं, वस्तु के

सद्‌गुणों का वर्णन करने से नायक में आत्मश्लाघा का दोष नहीं लगेगा।" दण्डी ने भामह की कथा-आख्यायिका की मान्यताओं के विषय में यह भी कहा है कि इस विषय में नायक के द्वारा वाच्यावाच्य में नियम भङ्ग भी देखा जाता है, अतः यह भेद सङ्गत नहीं है क्योंकि देखा गया है कि आख्यायिका में भी दूसरे के द्वारा कथा प्रस्तुत की गई है।"

यहाँ पर एक शङ्का यह भी हो सकती है कि जिस आख्यायिका में अन्य के द्वारा वर्णन हो उसे कथा ही में अन्तर्भुक्त कर लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि "कथाख्यायिका में जब वक्तृव्यवस्था हो तब न ऐसा माना जाय, एक में यह वक्ता दूसरे में वह वक्ता इस तरह का भेदक धर्म क्यों स्वीकार किया जाय ? क्योंकि वास्तव में स्वरूप-भेद ही इनके भेदक हैं, वक्तृभेद नहीं।"

कारिका

वक्त्रं .... कथास्वपि ॥१४॥

अनुवाद—आख्यायिका में यदि वक्त्र और अपरवक्त्र छंद और उच्छ्‌वासादि का विभाग होना तत्‌बोधक आवश्यक चिह्न है, तो ये कथाओं में भी प्रसङ्गानुसार होने चाहिए।

व्याख्या—आशय यह है कि प्राचीन आचार्यो ने आख्यायिका में परिच्छेदों को उच्छ्‌वास नाम दिया है और कथा में लम्भक आदि नाम। इसी प्रकार आख्यायिका में आर्या छन्द का प्रयोग तथा कथा में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का। किन्तु ये भेदक लक्षण दोनों में प्रयुक्त हो सकते हैं अतः "कथानिर्माण में प्रवृत्त कवि यदि इन चिह्नों से काम लेता है, तो वही कवि आख्यायिका में यदि भिन्न चिह्नों का प्रयोग करे तो इससे आख्यायिका तथा कथा में कुछ अन्तर नहीं होता।"

कारिका

आर्यादिवत् .... किं ततः ॥१५॥

अनुवाद—कथा में भी प्रसङ्गानुसार आर्या आदि छन्दों की तरह वक्त्र तथा अपरवक्त्र आदि छन्दों का प्रयोग क्यों करें। कथा में लम्भक आदि का भेद दृष्टिगत होता है, फिर उच्छ्‌वास का भी प्रयोग हो तो क्या हानि है ?

व्याख्या—आशय यह है कि कथाकाव्य में आर्या आदि छन्दों की तरह वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग बाधक सिद्ध नहीं होगा, अतः कथा एवं आख्यायिका में वक्त्र आदि तीनों छन्दों का प्रयोग स्वेच्छानुसार किया जा सकता है। छन्दों की भाँति लम्भक एवं उच्छ्‌वास आदि भी भेदक लक्षण सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार दण्डी स्पष्टतः कथा तथा आख्यायिका में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। **वे संज्ञा भेद को 'घटकलशादिवत्' अप्रयोजक मानते हैं।**

कारिका

तत्कथा..................................**जातयः** ॥१६॥

अनुवाद—इस तरह कथा तथा आख्यायिका दोनों ही एक ही जाति की हैं पर दो भिन्न नामों से अभिहित की गई हैं। अन्य आख्यान जातियाँ—खण्ड कथा, परिकथा, कथालिका आदि भी इन दो के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाती हैं।

व्याख्या—कथा एवं आख्यायिका दोनों ही आख्यान जाति के काव्य के नाम भेद हैं। नाम भेद से मूल तत्व में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार खण्ड-कथा आदि गद्यकाव्य प्रबन्धों का भी आख्यायिका में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए। गद्यकाव्य के अन्य भेद निम्न हैं—

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा॥

वृत्ति

यत एवं..................................**सर्वथा स्यात्** ॥

क्योंकि इस प्रकार वर्णित कथा आख्यायिका आदि का कोई जाति भेद प्राप्त नहीं होता है, केवल संज्ञा का ही भेद है, अतः यह केवल एक गद्य जाति है। यह आख्यायिका है; यह कथा है; इन दो संज्ञाओं से—दो नामों से अङ्कित, संकेतित व्यवहार किया जाना चाहिए और नाम के भेद मात्र से ही जाति का भेद सर्वथा हो ऐसी बात नहीं है।

कारिका

कन्या..................................**गुणाः** ॥१७॥

अनुवाद—कन्या का अपहरण, युद्ध, विप्रलम्भ (वियोगजन्य प्रेम), उदय (उन्नति या उत्पत्ति), आदि महाकाव्य के सर्गबन्ध के समान आख्यायिका के विशिष्ट गुण नहीं हैं।

व्याख्या—भामह के अनुसार 'आख्यायिका' में कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ शृङ्गार, नायक के अभ्युदय आदि का वर्णन हो—"**कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता।**" इस वर्णित लक्षण के अनुसार 'कथा' और 'आख्यायिका' में अन्तर सिद्ध हो जाता है। इस तर्क का खण्डन दण्डी की उपर्युक्त कारिका में किया गया है तदनुसार—"यदि कन्याहरणादि वस्तु आख्यायिका मात्रनिष्ठ होते तब यह भेदक हो सकते थे, परन्तु यह कन्याहरणादि तो महाकाव्यों में भी वर्णनीयतया स्वीकृत हैं, अतः इनके वर्णन से आख्यायिका और कथा का भेद प्रमाणित नहीं किया जा सकता।"

वृत्ति

तेऽपि..................................**दर्शनात्** ॥

भावार्थ—कथा और आख्यायिका किसी एक के विशिष्ट गुण नहीं हैं। आख्यायिका के विशिष्ट भेद कहे जाते हैं, किन्तु वे विशिष्ट गुण या भेदक धर्म

नहीं होते हैं । इसका कारण क्या है ? क्योंकि सर्गबन्ध महाकाव्य में भी साधारणतः कन्याहरणादि वर्ण्य-विषय होते हैं, इनके वहाँ भी दृष्टिगत होने के कारण । फिर आख्यायिका में उनके समावेश पर प्रतिबन्ध क्यों ?

कारिका

कविभावकृत.................................**कृतात्मनाम्** ॥१८॥

अनुवाद—कवि द्वारा अभिप्राय-विशेष से निर्मित लक्षण 'कथा' से अन्यत्र भी दूषित नहीं होता । इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए विद्वान् किसी भी घटना से अपने काव्य या 'कथा' को आरम्भ कर सकता है ।

व्याख्या—भामह ("**कवेरभिप्रायकृतैरङ्कनैः कैश्चिदङ्किता**") के कथनानुसार, कथा में कवि अपनी इच्छा के अनुकूल कुछ चिह्न लगाते हैं । जैसे कि माघ ने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' तथा भारवि ने 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है । यही कथा एवं आख्यायिका में भेद मानना चाहिए । किन्तु यदि यह बात केवल कथा मात्र में दृष्टिगत होती, तब तो इसे 'कथा' और 'आख्यायिका' का भेदक धर्म माना जा सकता था । परन्तु ये चिह्न तो महाकाव्यों में भी उपलब्ध होते हैं । यदि ये महाकाव्यादि में प्रयुक्त हो सकते हैं फिर 'कथा' में क्यों नहीं ? अतः इस लक्षण को 'आख्यायिका' और 'कथा' का भेदक तत्व कैसे माना जा सकता है ।

वृत्ति

कवे.................................**कौशलविशेषात्** ॥

भावार्थ—कवि या प्रयोक्ता के इच्छानुसार कृत प्रयत्न-चिह्नों का अङ्कन अन्यत्र कथा में भी अथवा सर्गबन्ध महाकाव्य में भी, न केवल आख्यायिका में ही दोष का कारण बनता है । इसलिए कृती कविगण चाहे जिस तरह के शब्द प्रयोग करके अपना अभीष्ट भाव सिद्ध कर लेते हैं, मङ्गलादि की सिद्धि कर लिया करते हैं । '**कृतात्मनाम्**' की व्युत्पत्ति करते हुए रत्नश्री लिखते हैं—कृतः सुसंस्कृत, व्युत्पन्न है आत्मा=चित्त जिनका, वे उन कृतात्माओं बुद्धिमानों । इष्ट अर्थ को अपने नामादि के अङ्कनादि दूसरे उपाय से विदग्ध कवि के लिए किस अर्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है । सभी कुछ उन कवियों की इष्ट सिद्धि का कारण होता है, कौशल विशेष से । आशय यह है कि कविगण इस प्रकार के चिह्न कथा में, आख्यायिका में अथवा जहाँ चाहे लगा सकते हैं । बुद्धिमान कवि किसी भी शब्द प्रयोग के द्वारा मङ्गलादि की सिद्धि कर लेते हैं । अभिप्रेत अर्थ को साध लेते हैं ।

दण्डी के 'आख्यायिका' और 'कथा' विषयक विचारों का सारांश यह है कि भामह के लक्षणों के अनुसार 'कथा' एवं 'आख्यायिका' का भेद सिद्ध नहीं होता है । इन लक्षणों में कोई सुनिश्चित भेदक तत्व नहीं हैं । फिर उन्हें एक जाति की रचना क्यों न माना जाय ? गद्य काव्य के अन्य भेद भी इन्हीं में गतार्थ हो जाते हैं । अतः इनके अलग-अलग भेद करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है ।

कारिका

मिश्राणि.............................विस्तरः ॥१६॥

अनुवाद—गद्य-पद्य-मिश्रित रचना, नाटक आदि दृश्य काव्यों में होती है, उनका वर्णन अन्यत्र विस्तार से किया गया है ।

व्याख्या—दण्डी ने "**गद्यं पद्यं च मिश्रं चतत्त्रिधैवव्यवस्थितम्**" कह कर काव्य के तीन भेद माने हैं । उनमें से यहाँ मिश्र काव्य के विषय में कहते हैं कि नाटक आदि को मिश्र काव्य कहते हैं, उनका विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में दृष्टव्य है । नाटकादि शब्द से निम्न का ग्रहण होता है—

रूपक

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणिदश ॥

तथा उपरूपक—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पिकं च विशालिका ।
दुर्मल्लीका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेत्यपि ॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ॥

वृत्ति

नाटकमादि...............................द्रष्टव्यः ॥

भावार्थ—नाटक आदि में है जिनके ऐसे जो प्रकरण आदि मिश्र-काव्य हैं उन नाटकादि काव्यों को यहाँ मिश्रकाव्य-गद्य-पद्यमय जानना चाहिए, इस प्रकार मिश्रविधि है । क्या कथा आदि भी मिश्र काव्य हैं क्योंकि उनमें भी पद्य का प्रयोग मिलता है ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ प्रसङ्गवश पद्य का प्रवेश मिलता है, आधिकारिक रूप में नहीं । नाटकादि में गद्य-पद्य अधिकृत रूप में प्रयुक्त होते हैं अतः नाटक ही मिश्रकाव्य है । उन नाटकों आदि मिश्र काव्यों का अन्यत्र भरत, कोहल आदि निर्मित नाट्यशास्त्र में विस्तार से वर्णन है । नान्दी, प्ररोचना आदि के स्वरूप का निरूपण रूप प्रपञ्च यहाँ अधिकृत है, किन्तु वह यहाँ वर्णित नहीं है, वह भी वहीं दृष्टव्य है ।

इस प्रकार दण्डी ने मिश्रकाव्य का सामान्य लक्षण लिखा है, किन्तु उनका विस्तार से वर्णन नहीं ।

---

११. काव्यस्य पाठप्रतिष्ठा

पदवाक्यविदां·························**कुरुतेऽन्यथा ॥१॥**

अनुवाद—पद और वाक्य (व्याकरण और मीमांसा) के ज्ञाताओं का दूसरा ही मार्ग है। वे अंगों के अभिनय के द्वारा काकु का कार्य करते हैं, किन्तु काकु उसे अन्यथा कर देता है।

व्याख्या—काकु ध्वनिविकार का नाम है 'भावावेश या उद्देश्य विशेष के कारण एक विशेष प्रकार की परिवर्तित ध्वनि काकु कहलाती है''—**'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।'**

अयं·························**जीवितम् ॥२॥**

अनुवाद—यह काकु का प्रयोग केवल लोक में ही नहीं होता है, अपितु शास्त्रों में भी इसका साम्राज्य है और काव्य का तो यह प्राण ही है।

व्याख्या—काकु का प्रयोग दैनिक जीवन के अतिरिक्त वैदिक मन्त्रों के पाठ के अवसर पर भी होता है, वेद मन्त्रों में अनेक ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं; जहाँ स्वर विशेष के अल्प परिवर्तन से विभिन्न अर्थों की प्रतीति होने लगती है। काकु का सबसे अधिक प्रयोग काव्य में होता है, यह काव्य के अर्थ में सौन्दर्य का आधान भी करता है अतः यह काव्य का प्राण है।

कामं·························**चातुरीम् ॥३॥**

अनुवाद—काकु बिना किसी व्यवधान के दूसरे अर्थ की प्रतीति उचित रूप में करता है तथा काकु सज्जनों (चतुर व्यक्ति) के भावों के अभिनय की विशेषता को भी स्पष्ट करता है, अर्थात् काकु चतुर व्यक्तियों की भावना को भी स्पष्ट करता है।

व्याख्या—काकु में विभिन्न भावों को बिना किसी सन्देह और विलम्ब के व्यक्त करने की क्षमता होती है।

इत्थं·························**निषिञ्चति ॥४॥**

अनुवाद—काव्य-रचना में कवि को काकु का ऐसा प्रयोग करना चाहिए और बुद्धिमान् को उसे ऐसे स्वर से पढ़ना चाहिए कि निबन्ध का भाव स्पष्ट रूप से अनोखा तथा चमत्कारपरक प्रतीत हो।

व्याख्या—कवि को काव्य रचना करते समय काकु का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए, जिससे कि वह चमत्कारजनक सिद्ध हो।

करोति.............................सरस्वती ॥५॥

अनुवाद—काव्य रचना में निपुण कवि येन-केन-प्रकारेण काव्यरचना कर लेता है किन्तु कविता-पाठ करना उसे ही आता है जिसे सरस्वती सिद्ध होती है।

व्याख्या—कविता पाठ का कार्य सरल नहीं है, प्रतिभाशाली सरस्वती के वरदपुत्र ही इस कला में प्रवीण होते हैं। राजशेखर का इस विषय में कहना है कि काव्य-पाठ का सौन्दर्य अनेक जन्म के अभ्यास से प्राप्त होता है—

यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता।
तथैव पाठ सौन्दर्यं नैकजन्मवर्जितम् ॥

ससंस्कृतम्.............................उद्गिरेत् ॥६॥

अनुवाद—संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा की कविता का पाठ लालित्य के साथ पढ़ना चाहिए तथा प्राकृत एवं भूतभाषा की कविता को उत्तरोत्तर सौन्दर्य वृद्धि के साथ पढ़ना चाहिए।

ललितं.............................प्रशंसन्ति ॥७॥

अनुवाद—ललित स्वर से, काकु से समन्वित, स्पष्ट, अर्थ के अनुरूप विराम सहित, कर्ण-मधुर ध्वनि से तथा एक-एक वर्ण को स्पष्ट रूप से जब पढ़ा जाता है, उस कविता-पाठ की प्रशंसा होती है।

व्याख्या—कविता पाठ में लालित्य, विराम और स्पष्ट उच्चारण को विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अतितूर्ण.............................निन्दन्ति ॥८॥

अनुवाद—अति शीघ्र या अति धीरे बहुत जोर से या चिल्लाकर या अति मन्द स्वर से, पदच्छेद तथा पद को स्पष्ट किये बिना, अति मृदुता या अति कठोरता से कविता पाठ निन्दित होता है।

विभक्तयः.............................प्रतिष्ठितः ॥९॥

अनुवाद—काव्य-पाठ करते समय जिसमें विभक्तियाँ स्पष्ट हों, समास भी सरल और स्पष्ट हों, तथा पद-सन्धियाँ भी अस्पष्ट न हों, वह काव्य पाठ प्रतिष्ठित या श्रेष्ठ कहा जाता है, उसकी प्रशंसा होती है।

न व्यस्तपदयो.............................सुधीः पठन् ॥१०॥

अनुवाद—विद्वान् कवितापाठी को चाहिए कि वह पृथक् पदों का एक साथ उच्चारण न करे, समास वाले पदों को पृथक्-पृथक् भी न पढ़े, तथा क्रिया पदों (आख्यात-पद) का अस्पष्ट उच्चारण न करे अर्थात् क्रियाओं का भी स्पष्ट रूप में उच्चारण करे।

येऽपि.............................**कर्णरसायनम् ॥११॥**

अनुवाद—जिन्हें न तो शब्द ज्ञान है और न अर्थ ज्ञान ही है, उन्हें विद्वानों का काव्यपाठ सुन्दर और कर्ण-प्रिय लगता है। अर्थात् विद्वानों का काव्य पाठ प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रिय और उपयोगी होता है।

पञ्चस्थान.............................**हि पाठस्य ॥१२॥**

अनुवाद—वर्णों की उत्पत्ति के पाँच स्थान हैं—स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान (**स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुः**)। इन पाँचों स्थानों से उत्पन्न वर्णों का उचित रूप में उच्चारण होना तथा अर्थ के अनुसार विराम होना, यही पाठ का रहस्य है।

---

१२. काव्ये व्याकरणज्ञानस्योपयोगः

सूत्राम्भसं.....................कर्त्तुमयं जनः ।।१–३।।

अनुवाद—भामह के अनुसार व्याकरण एक समुद्र है, उस व्याकरण रूपी समुद्र का रूपक इस प्रकार है—

"सूत्र जल, वार्तिक (पद) भँवर (आवर्त्त), पारायण (भाष्य) रसातल, धातुपाठ-उणादि-गणपाठ ग्राह हैं। (उस व्याकरण रूपी समुद्र को पार करने के लिए) मनन महान् नाव के समान है। धीर=विद्वान् मनुष्य उसके कूल=किनारे को देखते हैं किन्तु अमेधावी=बुद्धिहीन मनुष्य उसकी निंदा करते हैं; अन्य समस्त विद्यारूपी करेणुएँ (हथिनियाँ) उसका उपभोग करती हैं। उस कठिनता से पार करने योग्य (दुर्गाधं), व्याकरण रूपी समुद्र को पार किए बिना कोई मनुष्य (अयं जनः) शब्दरत्न तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता है।

व्याख्या—भामह का इस रूपक से आशय यह है कि शब्द और अर्थ कवि के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। कवि शब्द-अर्थ जीवी प्राणी है। अतः शब्द-प्रयोग से पूर्व उसे शब्द में शुद्धाशुद्ध और उचितानुचित का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। शब्द के शुद्धाशुद्ध का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। व्याकरण एक अगाध समुद्र है, अतः उसका यह रूपक सर्वथा सार्थक है। रूपक भी स्पष्ट है। "धातुपाठ; उणादि तथा गणपाठ जटिलता के कारण भयोत्पादक होने से ग्राह कहे गये हैं। कोई भी विद्या व्याकरण के अभाव में पुष्ट नहीं हो सकती। जिस तरह जलावगाहन से हथिनियों को तृप्ति होती है, उसी तरह व्याकरण से सभी विद्याओं की पुष्टि होती है।"

(काव्यालङ्कार, भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ० १४३)

व्याकरण के महत्व की चर्चा करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि—"शब्दों का तत्वज्ञान व्याकरण को छोड़कर अन्य से नहीं हो सकता। वह मोक्ष का द्वार, वाणी के विकारों का निवारक, सभी विद्याओं में पवित्र और सबसे बढ़कर प्रकाशित हैं"—

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।
तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।।

[वाक्यपदीय १।१३–१४.]

तस्य..**रतिः** ।४।

अनुवाद—काव्य-रचना के इच्छुक व्यक्ति को उस व्याकरण ज्ञान के प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे व्यक्ति के विश्वास से (पर प्रत्ययतो) जो रचना की जाती है उससे क्या सन्तोष हो सकता है?

व्याख्या—दूसरे के प्रयोग को प्रामाणिक मानकर प्रयुक्त पद निरन्तर मन में सशंय को उत्पन्न करता है। उसमें भ्रांति की सम्भावना भी रहती है, अतः स्वयं अध्ययन कर पदादि का प्रयोग करना चाहिए।

नान्य..................................**कुसुमावली** ।५।

अनुवाद—जिसके शब्द दूसरे के प्रमाण पर निर्भर हों ऐसी वाणी, दूसरे व्यक्ति के द्वारा धारण कर उतार दी गई पुष्प की माला के समान विद्वानों को कभी प्रसन्न नहीं कर सकती।

व्याख्या—सुन्दर और सुगन्धित पुष्पमाला यदि किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा पहनकर उतारी गई है, ऐसी माला दूसरे पहनने वाले व्यक्ति के मन को न तो प्रसन्न ही करती है और न आनन्द ही देती है। इसी प्रकार दूसरे के अनुकरण पर रचित काव्य रचना भी हृदय को तृप्त नहीं करती है।

मुख्य.. ....**अनुवादिनः** ।।६।।

अनुवाद—महत्वपूर्ण तथ्य यही है कि अपनी शक्ति से काव्य-रचना में प्रवृत्त हो, दूसरे व्यक्ति के ज्ञान का उपयोग करने वाले कवि उनके वाक्यों-कथनों का अनुवाद-मात्र करते हैं।

व्याख्या—दूसरे व्यक्ति के ऊपर निर्भर होकर भी काव्यरचना हो सकती है किन्तु जो आत्मतृप्ति स्वयं अध्ययन करने के बाद काव्यरचना करने में होती है, वह तृप्ति दूसरों के अनुवाद करने वाले को कहाँ?

---

१३. काव्यप्रबन्धेषु परस्परं संवादाः

संवादास्तु..**विपश्चिता** ।।१।।

अनुवाद—प्रतिभाशाली कवियों में प्रायः संवाद (समान उक्तियाँ) तो मिलते ही हैं किन्तु विद्वानों को चाहिए कि वे उन्हें (संवादों को) एक रूप न मानें ।

व्याख्या—कवि प्रतिभाशाली होते हैं, किन्तु मानव समाज में रहने, प्राचीन ग्रन्थों आदि को पढ़ने के कारण उनकी प्रतिभा का प्रायः समान विकास होता है । इसलिये कवियों में प्रायः सादृश्य या समान उक्तियाँ मिल जाती हैं । कवि एवं काव्य अनन्त हैं, वे नितनूतन कल्पना को जन्म भी देते हैं, देश, काल एवं अवस्था आदि के वैभिन्न होने पर भी कदाचित् विचारों और कल्पनाओं में साम्य मिल ही जाता है । किन्तु उन्हें एक रूप या अनुकरण नहीं समझना चाहिए । अनुकरण या एक रूप क्यों नहीं समझना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर आनन्दवर्धन अगली कारिका में इस प्रकार दे रहे हैं—

संवादो..**शरीरिणाम्** ।।२।।

अनुवाद—"अन्य के साथ सादृश्य का नाम संवाद है । और वह सादृश्य प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान, चित्र के आकार के समान और दूसरे शरीरधारी प्राणी के समान होता है ।"

व्याख्या—आनन्दवर्धन इस सादृश्य को तीन प्रकार का मानते हैं—

(१) प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान

(२) चित्ररचना के आकार के समान

(३) अन्य शरीरधारी प्राणी के समान ।

वृत्ति

संवादो..**शरीरिणा सदृशम्** ।।

भावार्थ—दूसरे काव्य तत्व के साथ काव्यार्थ की समानता ही संवाद है । फिर वह साम्य प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान या चित्रस्थ आकार के समान, या समान शरीरधारी के समान तीन प्रकार का स्थिर होता है । निश्चयतः कोई काव्य-वस्तु, अन्य काव्यवस्तु के प्रतिबिम्ब के समान होती है, कोई दूसरी चित्र के आकार के समान और तीसरी समान शरीरधारी के समान होती है ।

तत्र पूर्वम·······························**कविः ॥३॥**

अनुवाद एवं व्याख्या—उन तीन संवादों में से प्रथम अपने भिन्न स्वरूप से रहित है, अतः ग्राह्य नहीं है। उसके बाद का दूसरा चित्राकार तुल्य सादृश्य तुच्छ स्वरूप होने के कारण वह भी त्याज्य है और तृतीय तुल्य देहि के समान तो प्रसिद्ध स्वरूप है, अतः दूसरी वस्तु के साथ तृतीय साम्य का कवि को परित्याग नहीं करना चाहिए।

वृत्ति

तत्र पूर्वं·······························**वक्तुम् ॥**

भावार्थ—उपर्युक्त (तत्र पूर्वं) कारिका की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं कि उन तीन संवादों में से प्रथम प्रतिबिम्बरूप काव्यवस्तु को बुद्धिमान् कवि को त्याग देना चाहिए। क्योंकि वह अनन्यात्म है—तात्विक स्वरूप से हीन है। उसके बाद द्वितीय चित्रतुल्यसाम्य स्वरूपान्तर से युक्त होने पर भी तुच्छ है अतः वह भी त्याज्य है। तृतीय भिन्न और सुन्दर शरीर से युक्त काव्यवस्तु अन्य के समान होने पर भी कवि को उसका त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक शरीरधारी मानव या प्राणी अन्य शरीरधारी के समान होने पर भी एक ही है, अभिन्न ही है; ऐसा कहना सम्भव नहीं है।

इसी तथ्य का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने इस (४।१४) कारिका में किया है—

आत्मनोऽन्यस्य···········**शशिच्छायमिवाननम् ॥४॥**

अनुवाद—अन्य आत्मा के होने पर भी प्राचीन कविवर्णित पदार्थों का अनुसरण करने वाली वस्तु भी चन्द्रमा की कान्ति से सम्पन्न सुन्दरी स्त्री के मुखमण्डल के समान अधिकतम शोभायमान होती है।

व्याख्या—आशय यह है कि काव्य के आत्मतत्व की पूर्ण निष्पत्ति होने पर, काव्य के वास्तविक शोभावायक तत्वों के काव्य में होने पर प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित हो जाने पर भी काव्य की वस्तु और भी अधिक शोभायमान होती है, पुनरुक्त प्रतीत नहीं होती है। जैसे चन्द्र की छाया से युक्त सुन्दरी रमणी का मुखमण्डल **अनेकश वर्णित होने पर भी** पुनरुक्त सा प्रतीत नहीं होता है। अपितु वह नित नूतन प्रतीत होता है, इसी प्रकार काव्य में भी विचार करना चाहिए।

---

१४. पद्यकाव्यप्रबन्धे वृत्तयोजना

प्रबन्धः·····························मौक्तिकैरिव ।।१।।

अनुवाद—निर्दोष, गुणसम्पन्न सुन्दर वृत्तों के यथास्थान निविष्ट होने पर मुक्तामाला की भाँति प्रबन्धकाव्य अत्यन्त शोभायमान होता है।

शास्त्रं·····································मतः ।।२।।

अनुवाद—सारस्वत मत के अनुसार शास्त्र, काव्य, शास्त्रकाव्य और काव्य-शास्त्र के भेद से काव्यादि का चार प्रकार का विस्तार है।

शास्त्रं·································सेतुताम् ।।३।।

अनुवाद—स्पष्ट अर्थ वाले अनुष्टुभ् छन्द में शास्त्र की रचना प्रयत्नपूर्वक करें। वह सभी के उपकार के लिए स्पष्ट सेतु के समान होता है।

काव्ये································विभागवित् ।।४।।

अनुवाद—काव्य-सृष्टा काव्य में रस एवं वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप छन्दों का प्रयोग करे।

शास्त्रकाव्ये·························काव्यवित् ।।५।।

अनुवाद—शास्त्रकाव्य में अतिदीर्घ वृत्तों का प्रयोजन नहीं है, काव्यशास्त्र में भी रसानुकूल (लघु) वृत्तों का प्रयोग काव्य-वेत्ता करे।

पुराण·························सर्गेस्वनुष्टुभम् ।।६।।

अनुवाद—पौराणिक इतिवृत्त को प्रस्तुत करते समय प्रसन्न काव्यमार्ग में उपदेश प्रधान प्रसङ्ग में सर्वत्र अनुष्टुभ वृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

नानावृत्त·································इव ।।७-८।।

अनुवाद—नाना विशिष्ट छन्द कवि की प्रतिभा के शासन से राजा के समान अयोग्य भी योग्यतम बन जाते हैं। अयोग्यवृत्त भी कवि की प्रतिभा से श्रेष्ठ बन जाते हैं। फिर भी साधु शब्द एवं पदों से विभूषित सज्जनों की तरह प्रबन्ध श्रेष्ठ छन्दों से ही शोभित होते हैं।

वृत्तरत्नावली·····························कृता ।।९।।

अनुवाद—स्वेच्छा से छन्दावली को यदि अनुपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है, वह कवि की अज्ञानता को ही व्यक्त करता है, जैसे कि कंठ में धारण की

गई मेखला । मेखला कटि में धारण की जाती है, उसका उचित स्थान कंठ न होकर कटि है । कंठ में धारण करने पर वह व्यक्ति उपहासास्पद बनता है ।

वृत्ते........................**प्रदर्शयेत्** ।।१०।।

अनुवाद—जिस छन्द में कवि की प्रगल्भता-विशिष्ट रुचि या ज्ञान हो, वह उसी के द्वारा अपने काव्य-प्रसङ्ग (कथ्य) को प्रदर्शित करे ।

वृत्तच्छत्रस्य..............................**कृता** ।।११।।

अनुवाद—छन्दों में वंशस्थ की वह विचित्रता है कि जिस छन्द ने भारवि की प्रतिभा को श्रेष्ठ छाया प्रदान की है, उसकी प्रतिभा को उत्कर्ष प्रदान किया है ।

भवभूतेः..................................**नृत्यति** ।।१२।।

अनुवाद—नाटककार भवभूति का शिखरिणी छन्द स्वच्छन्द तरंगिणी के समान है, इसीलिए वह रुचिर धन-सन्दर्भ में जैसे मयूरी नृत्य करती है, वैसा ही सौन्दर्य भवभूति के शिखरिणी वृत्त का है ।

सुवशा........................**कम्बोजतुरगाङ्गना** ।।१३।।

अनुवाद—जिस प्रकार कम्बोज देशोत्पन्न घोड़ी अच्छे घोड़े के अधीन हो जाती है, उसी प्रकार कालिदास के अधिकार में मन्दाक्रान्ता छन्द भाव व्यक्त करता है । आशय यह है कि मन्दाक्रान्ता कालिदास की प्रसन्न-मधुरा वाणी के वशीभूत होकर झूमती चाल में गति करता है ।

सुवर्णार्हे.................................**रुचिः** ।।१४।।

अनुवाद—सुन्दर वर्णों की योजना जहाँ होती है, वहाँ छन्द चमक उठते हैं । स्वर्णाभूषणों में यथास्थान जैसे रत्न जड़े जाते हैं, उनसे आभूषणों की शोभा बढ़ती है, वैसे ही सुन्दर वर्ण योजना से छन्दों की अधिक शोभा होती है ।

---

१५. पद्यकाव्यविनियुक्ता वृत्तविशेषाः

वृत्त परिचय

छन्द का अर्थ—छन्द शब्द के दो अर्थ हैं एक—**आच्छादन-छदांसि छादनात्।** इस छन्द के द्वारा रस, भाव या वर्ण्य-विषय को आच्छादित किया जाता है। दूसरा अर्थ है **आह्लादन**, इन छन्दों से मानव मन का मनोरंजन होता है।

छन्दः शास्त्र के आचार्य

छन्दशास्त्र के प्राचीनतम आचार्य का नाम (१) **पिंगल** है, इनका समय लगभग ३०० ई० पू० है। इनके ग्रन्थ का नाम है—**छन्दः सूत्रम्।** दूसरे आचार्य का नाम **कालिदास** है, इनका समय ई० पू० ५७ है तथा इनकी कृति का नाम **श्रुतबोध** है। (३) **क्षेमेन्द्र** १०५० ई० का **सुवृत्ततिलक**, (४) **हेमचन्द्र** १०८८–११७२ ई० का **छन्दोऽनुशासन**, (५) **केदारभट्ट** १२वीं शताब्दी का **वृत्तरत्नाकर**, (६) **जयदेव** १४वीं शताब्दी का **छन्दोऽनुशासन**, (७) **गंगादास** १५वीं शताब्दी का **छन्दोमंजरी**, (८) **दामोदर मिश्र** १६वीं शताब्दी वाणीभूषण, (९) **दुखभंजन** १९वीं शताब्दी का वाग्वल्लभ आदि छन्दः शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य तथा ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त **'प्राकृतपैंगलम्'** नामक एक रचना बारहवीं शताब्दी की भी मिलती है किन्तु इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

छन्द के प्रकार

छन्द या वृत्त तीन प्रकार का होता है—समवृत्त, अर्धसमवृत्त तथा विषम वृत्त। जिस वृत्त के चारों चरणों या पादों में समान वर्ण हों, वह **'समवृत्त'** होता है, जैसे—अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा आदि। **अर्धसमवृत्त** जिसका प्रथम तथा तृतीय चरण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हो, उस वृत्त को 'अर्धसम वृत्त' कहते हैं, जैसे—वियोगिनी पुष्पिताग्रा आदि। **विषमवृत्त** जिसके चारों चरण भिन्न-भिन्न प्रकार के हों, उसको 'विषमवृत्त' कहते हैं, जैसे—उद्‌गता तथा गाथा आदि।

लघु-गुरु विचार

(१) ह्रस्व स्वर को लघु स्वर कहते हैं, लघु स्वर निम्न हैं, अ, इ, उ, ऋ, लृ।

(२) दीर्घ स्वर को गुरु कहते हैं। गुरु स्वर निम्न हैं—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ।

(३) लघु स्वर के बाद यदि अनुस्वार, विसर्ग अथवा कोई संयुक्त व्यंजन होगा, तो वह लघु स्वर भी गुरु माना जाता है।

(४) चरण का अन्तिम लघु स्वर छन्द की आवश्यकता के अनुसार गुरु भी माना जाता है—

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्णः संयोगपूर्वस्य तथा पादान्तगोऽपिवा ॥ [छन्दोमंजरी १।११]

छन्दः शास्त्र में 'ल' का अर्थ एक लघु है। 'लौ' का अर्थ दो लघु होता है। 'ग' का अर्थ एक गुरु, 'गौ' का अर्थ दो गुरु है। लघु का चिह्न (।) होता है तथा गुरु का चिह्न (ऽ) होता है।

वृत्त एवं जाति विचार

श्लोक के चतुर्थांश को पाद या चरण कहते हैं। चार पाद का एक पद्य होता है। पद्य के दो भेद—'**वृत्त**' और '**जाति**' नामक होते हैं। जिस छन्द का नियमन अक्षरों की गणना से होता है, उसे '**वृत्त**' कहते हैं, जैसे मालिनी, उपेन्द्रवज्रा आदि। जिसमें मात्राओं की गणना होती है, वह **जाति** नामक पद्य कहलाता है। जिस वर्ण में एक मात्रा हो उसे 'लघु' तथा जिसमें दो मात्रा हों उसे गुरु कहते हैं—

पद्यं चतुष्पदी, तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
वृत्तमक्षरसंङ्ख्यातं जातिर्मात्रा कृता भवेत् ॥ [छन्दोमंजरी १।४]

यति और गति

यति—"जिस-जिस स्थान पर जिह्वा स्वेच्छापूर्वक विश्राम करती है, उसको '**यति**' कहते हैं। विच्छेद, विराम, विरति आदि इसके नामान्तर हैं"—

यतिर्जिह्वेष्ट विश्रामस्थानं कविभिरुच्यते ।
सा विच्छेदविरामाद्याः पदैर्वाच्या निजेच्छया ॥ [छन्दोमञ्जरी १।१२]

गति का अर्थ है प्रवाह। श्लोक का धाराप्रवाह पढ़ना या पढ़ा जाना। यति छन्द में सर्वत्र नहीं होती है। यदि वह पदान्त में होती है तो शोभा को प्राप्त होती है। पद मध्य में शोभा नष्ट कर देती है। परन्तु पद मध्यगत यति स्वर संधि से युक्त हो तो मनोहरता को प्राप्त होती है।"

गण विचार

वर्णिक छन्दों के नियमन के लिए वर्णिक गणों की रचना की गई है। एक 'गण' में तीन वर्ण या अक्षर होते हैं। लघु वर्ण का चिह्न (।) सीधी रेखा है तथा गुरु वर्ण का चिह्न (ऽ) है। आठ गण हैं, उनके नाम और लक्षण इस श्लोक में द्रष्टव्य हैं—

मस्त्रिगुरुस्त्रि लघुश्च नकारो, भादि गुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥

[छन्दोमञ्जरी १।८]

अर्थात् (१) **मगण** में तीनों वर्ण गुरु (ऽऽऽ)
(२) नगण में तीनों लघु वर्ण (।।।)
(३) भगण में प्रथम गुरु अन्य दो लघु (ऽ।।)
(४) यगण में प्रथम लघु शेष दो गुरु (।ऽऽ)
(५) जगण में मध्यम वर्ण गुरु शेष दो लघु (।ऽ।)
(६) रगण में मध्यम वर्ण लघु शेष दो गुरु (ऽ।ऽ)
(७) सगण में अन्तिम वर्ण गुरु शेष दो लघु (।।ऽ)
(८) तगण में अन्तिम वर्ण लघु शेष दो गुरु (ऽऽ।)

इन गणों का ज्ञान इस श्लोक से भी किया जा सकता है—

आदि मध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम् ।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति म-नौ तु गुरु लाघवम् ।

अर्थात् यगण, रगण, तगण में क्रमशः प्रथम, मध्यम और अन्तिम वर्ण लघु होते हैं। भगण, जगण, सगण में क्रमशः प्रथम, मध्यम और अन्तिम वर्ण गुरु होते हैं। किन्तु मगण में तीनों गुरु तथा नगण में तीनों लघु होते हैं।

इन गणों के नाम, उनका स्वरूप, उनके देवता, उनका फल तथा उनकी मित्रामित्रादि संज्ञा का भी निर्देश किया गया है। वह इस प्रकार है—

गण नाम	मगण	यगण	रगण	सगण	तगण	जगण	भगण	नगण
स्वरूप	ऽऽऽ	।ऽऽ	ऽ।ऽ	।।ऽ	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।।	।।।
देवता	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	गगन	सूर्य	चन्द्र	स्वर्ग
फल	श्री	वृद्धि	विनाश	भ्रमण	धननाश	राग	यश	आयु
मित्रामित्रादि संज्ञा	मित्र	दास	शत्रु	शत्रु	उदासीन	उदासीन	दास	मित्र

मात्रिक गण

मात्रिक छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राओं की गणना की जाती है। मात्रिक गण के प्रत्येक गण में चार मात्रायें होती हैं। लघु (ह्रस्व) स्वर की एक मात्रा मानी जाती है तथा गुरु (दीर्घ) स्वर की दो मात्राएँ। मात्रिक गण पाँच हैं। उनके नाम तथा चिह्न निम्न हैं—

मगण	नगण	भगण	जगण	सगण
ऽऽ	।।	ऽ।।	।ऽ।	।।ऽ

विशिष्ट छन्द एवं उदाहरण

१. अनुष्टुप्

लक्षण—पंचमं .... प्रधानता ॥

अनुवाद—अनुष्टुप् वृत्त के प्रत्येक चरण का पंचम वर्ण लघु होता है, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण का सप्तम वर्ण भी लघु होता है। सम्पूर्ण चरणों का षष्ठ वर्ण सदैव दीर्घ होता है, यह श्लोक (अनुष्टुप्) का लक्षण है। संसर्ग के कारण अनुष्टुप् छन्द के अनेक भेद सम्भव हैं, किन्तु लक्ष्य के अनुसार श्रव्यता का महत्व है। इस छन्द के प्रत्येक पाद में आठ वर्ण होते हैं।

उदाहरण—

। ऽ ।ऽ।
वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
। ऽ ।ऽ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

[रघुवंश महाकाव्य १।१]

व्याख्या—अनुष्टुप् छन्द के नियमों के आधार पर यह श्लोक पूर्णतः नियमानुकूल है। इसके प्रत्येक चरण का पाँचवाँ अक्षर क्रमशः व, ति, त, र लघु हैं। इसी प्रकार प्रत्येक चरण का षष्ठ वर्ण दीर्घ है, जैसे क्रमशः 'सं' क्योंकि यह वर्ण सानुस्वार है, द्वितीय चरण में 'प' संयुक्ताक्षर 'त्त' से पूर्ववर्त्ती है, अतः छन्दः शास्त्र के नियमानुसार दीर्घ वर्ण है, इसी प्रकार 'रौ' और 'मे' भी दीर्घवर्ण हैं। द्वितीय तथा चतुर्थ चरण के सातवें अक्षर 'त्त' तथा 'श्व' दोनों ही लघुवर्ण हैं। अतः यह 'वागर्थाविव' श्लोक अनुष्टुप् छन्द में लिखित है।

२. वंशस्थम्

लक्षण—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"

अनुवाद—वंशस्थ वृत्त के प्रत्येक चरण में १२ वर्ण होते हैं, जो कि क्रमशः एक जगण और एक तगण तथा फिर एक जगण एवं एक रगण होता है, तथा इस वृत्त के पाद में यति होती है।

उदाहरण—

जगड़ तगण जगण रगण

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ

श्रियः कुरुणामधिपस्य पालिनीं
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ,
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ [किरातार्जुनीयम् १।१]

व्याख्या—मध्यगुरु जगण, अन्त लघु तगण, मध्यगुरु जगण तथा मध्यलघु रगण है, अतः इस श्लोक में वंशस्थ छन्द है ।

३. द्रुतविलम्बितम्—

लक्षण—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" [वृत्तरत्नाकर ३।४९]

अनुवाद—(द्रुतविलम्बित) छन्द के प्रत्येक चरण में यदि क्रमशः एक नगण, दो भगण तथा एक रगण हो तो उस वृत्त को द्रुतविलम्बित कहा जाता है । (पाद में यति होती है) ।

उदाहरण—माघ के शिशुपालवध (६।२) का श्लोक इस प्रकार है—

नगण भगण भगण रगण

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

"नवपलाशपलाशवनं पुरः"
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्
स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः ॥ [शिशुपालवध ६।२]

सानुस्वार तथा विसर्गी वर्ण दीर्घ होते हैं शेष वर्णों का गुरुत्व, लघुत्व स्पष्ट है । उपर्युक्त चिह्नों से युक्त इस पंक्ति में क्रमशः नगण (।।।), दो भगण (ऽ।।) तथा एक रगण (ऽ।ऽ) है अतः इन गणों से युक्त 'नवपलाश' में द्रुतविलम्बित छन्द है ।

४. वसन्ततिलका

लक्षण—"उक्ता वसन्ततिलकातभजा जगौ गः" [वृत्तरत्नाकर ३।७९]

अनुवाद—"जिस श्लोक के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक तगण और एक भगण तथा दो जगण एवं दो गुरु हों तो, उसे 'वसन्ततिलका' वृत्त कहा जाता है ।"

उदाहरण—विशाखदत्त के मुद्राराक्षस (१।१०) का यह श्लोक है—

तगण भगण जगण जगण

ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकानन धूमकेतोः ।
सद्यः परात्मपरिमाण विवेकमूढ़ः
कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥

व्याख्या—उपर्युक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में चिह्नों के आधार पर क्रमशः एक तगण (ऽऽ।) एक भगण (ऽ।।), दो जगण (।ऽ।) तथा अन्त में दो गुरु हैं अतः इस श्लोक में 'वसन्ततिलका' छन्द है।

५. मालिनी

लक्षण—**"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।"** [वृत्तरत्नाकर ३।८७]

अनुवाद—प्रत्येक चरण में यदि क्रमशः दो नगण, एक मगण तथा दो यगण हों तो, उस छन्द को मालिनी कहा जाता है। इस छन्द में आठ और सात पर यति होती है।

उदाहरण—

नगण नगण मगण यगण यगण

। । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

[अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।१७]

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के ऊपर अंकित चिह्नों के आधार पर दो नगण, एक मगण तथा दो यगण से युक्त यह श्लोक **मालिनी** छन्द में हैं।

६. शिखरिणी

लक्षण—**"रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी"**

[वृत्तरत्नाकर ३।९३]

अनुवाद—जिस श्लोक के प्रत्येक चरण में क्रमशः यदि एक यगण, एक मगण, एक नगण, एक सगण, एक भगण तथा एक लघु एवं एक गुरु होता है तो उसे 'शिखरिणी' छन्द कहा जाता है। (इस वृत्त में छः तथा ग्यारह पर यति होती है)।

उदाहरण—

यगण मगण नगण सगण भगण लघु गुरु

। ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ

क्षताङ्गीनां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचित परिक्लेश कृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबघ्नन्ति फणिनः।

[मुद्राराक्षस (६।१२)]

व्याख्या—इस श्लोक मे क्रमश यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा लघु और गुरु हैं, अतः यह श्लोक 'शिखरिणी' छन्द में निर्मित है।

७. मन्दाक्रान्ता

लक्षण— **चतुः षट् सप्तविरतिर्वृत्तं सप्तदशाक्षरम् ।**
मन्दाक्रान्ता मभनतैस्तगगैश्चाभिधीयते ॥

[सुवृत्ततिलकम् १।३५]

अनुवाद—मन्दाक्रान्ता छन्द में चार, छः और सात पर विरति (यति) होती है । इसमें सत्तरह अक्षर होते हैं । प्रत्येक पाद में क्रमशः एक मगण, एक भगण, एक नगण तथा दो तगण और दो गुरु वाले छन्द को मन्दाक्रान्ता कहा जाता है ।

उदाहरण—

मगण भगण नगण तगण तगण गुरु गुरु

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

कश्चित्कान्ताविरह गुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ [मेघदूत १।१]

व्याख्या—उदाहरण में निर्दिष्ट चिह्नों के आधार पर इसमें क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण तथा दो गुरु हैं, अतः यह वृत्त 'मन्दाक्रान्ता' है ।

८. शार्दूलविक्रीडितम्

लक्षण— **सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्"**

[वृत्तरत्नाकर ३।१०१]

अनुवाद—'प्रत्येक चरण में यदि क्रम से एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण और दो तगण तथा एक गुरु हो तो, उसे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द कहा जाता है । इस छन्द में बारह और सात पर विराम होता है ।

उदाहरण—

मगण सगण जगण सगण तगण तगण गुरु

ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ

रूपादीन् विषयान् निरुध्य करणै यैरात्म लाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि ते
न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे मुधा माद्यसि ॥

[मुद्राराक्षस ३।१]

व्याख्या—इस श्लोक के प्रथम चरण के ऊपर निर्दिष्ट चिह्नों से स्पष्ट है कि यह श्लोक 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त में निर्मित है क्योंकि इसमें क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण दो तगण तथा अन्त में एक गुरु है । अतः 'रूपादीन्' श्लोक 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त में रचित है ।

६. स्रग्धरा

लक्षण—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।

[वृत्तरत्नाकरः ३।१०४]

अनुवाद—प्रत्येक चरण में यदि क्रम से एक मगण, एक रगण, एक भगण, एक नगण और तीन यगण हों तो उस श्लोक में स्रग्धरा छन्द कहा जायगा । इस छन्द में सात, सात और सात पर विराम होता है ।

उदाहरण—

मगण	रगण	भगण	नगण	यगण	यगण	यगण
ऽऽऽ	ऽ।ऽ	ऽ।।	।।।	।ऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ

यासृष्टिः स्रष्टुराद्यावह तिविधि हुतंया हविर्या च होत्री
येद्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिताव्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

[अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।१]

व्याख्या—इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द के नियमानुसार क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण तथा तीन यगण हैं, जैसा कि प्रथम चरण के ऊपर निर्दिष्ट संकेतों से स्पष्ट है, अतः यह श्लोक 'स्रग्धरा' छन्द में रचित है ।

---

१६. गद्यकाव्यस्य रूपत्रयम्

काव्यं..............................**इति**॥१।३।२१

अनुवाद—काव्य गद्य और पद्य दो प्रकार का होता है।

काव्य के इन दो भेदों में से—गद्य का सर्वप्रथम निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्ज्ञेय और उसकी रचना कठिन होने के कारण किया है। जैसा कि कहा जाता है—'गद्य को कवियों की कसौटी कहते हैं'।

व्याख्या—वामन के अनुसार काव्य गद्य-पद्यात्मक दो प्रकार का है। गद्य रचना कठिन है तथा कवियों की प्रतिभा की कसौटी है, अतः सर्वप्रथम उसका वामन विवेचन करते हैं। 'गद्य कवियों की कसौटी है' क्योंकि कविता में किसी पद्य-विशेष में अपनी कल्पना अथवा शब्द विशेष के प्रयोग द्वारा कवि प्रशंसा का अधिकारी बन जाता है, किन्तु गद्य-रचना में कवि अथवा गद्यकार तभी प्रशंसा का भाजन बन सकता है जब कि उसकी समग्र रचना अनुपम हो, आकर्षक हो, भावपूर्ण और कल्पना-सौन्दर्य से पूर्ण हो। गद्यकाव्य का लेखन सहज होते हुए भी उसमें उत्कृष्टता एवं लोकप्रियता प्राप्त करना सरल नहीं है क्योंकि गद्यकाव्य जनता के अधिक निकट है।......"पद्य में लोग अपना बुद्धि-कौशल एवं कला-नैपुण्य प्रदर्शित करते हैं परन्तु गद्य में यह उच्छृंखलता देखने को नहीं मिलती। गद्य हमारे साधारण क्रियात्मक जीवन का प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी बारीकियों से परिचित होता है, अतः श्रेष्ठ गद्य-काव्य में कवियों की परीक्षा होती है, वस्तुतः वह उनकी कसौटी है।"

तच्च त्रिधा..............................**प्रायं च**॥

अनुवाद—वह गद्य भी तीन प्रकार का होता है, गद्य—

(१) वृत्तिगन्धि, (२) चूर्ण और (३) उत्कलिकाप्राय।१।३।२२.

तल्लक्षण..............................**प्रत्यभिज्ञायते**।

अनुवाद—उन तीनों गद्य के भेदों के लक्षण कहते हैं—जो गद्य पढ़ने में गद्य भाग से युक्त अथवा उसके समकक्ष प्रतीत हो, उसमें वृत्त=छन्द की झलक होने के कारण उसे वृत्तगन्धि कहते हैं।१।३।२३।

पद्यभागवत समस्त शब्द का विच्छेद करते हैं—पद्य का भाग पद्यभाग (यह षष्ठी तत्पुरुष समास है) उससे युक्त या उसके समान पद्य वृत्तिगन्धि कहा जाता है। जैसे—

पाताल के ताल के तल में वास करने वाले दानवों में। इस उदाहरण में निश्चय ही 'वसन्ततिलका' छन्द का भाग है, जोकि सहज ही पहचान लिया जाता है। (१।३।२३) उपर्युक्त गद्यांश में 'वसन्ततिलका' वृत्त की गन्ध होने के कारण यह वृत्तगन्धि गद्य कहा जाता है।

अनाविद्ध..............................दधाति इति ॥

अनुवाद—असमस्त (अनाविद्ध) तथा ललितपदविन्यास युक्त गद्यांश 'चूर्ण' कहलाता है। १।३।२४।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए वामन लिखते हैं कि 'अनाविद्ध' अर्थात् लम्बे-समास से रहित, तथा सुन्दर कोमल पद जिस गद्य रचना में हों वह अनाविद्ध ललितपद वाला गद्य 'चूर्ण' कहा जाता है। जैसे—

कार्यों के अभ्यास से कौशल को प्राप्त होता है। केवल एक बार गिरने मात्र से तो जल की बिन्दु भी पत्थर में चिह्न (गड्ढा) नहीं डाल सकती है।१।३।२४।

विपरीतमु..............................केसरिणि इति।

अनुवाद—उपर्युक्त चूर्णात्मक गद्य के विपरीत 'उत्कलिकाप्राय' गद्य होता है।१।३।२५।

इसका स्पष्टीकरण वामन के अनुसार—चूर्णात्मक गद्य से विपरीत अर्थात् दीर्घसमासों से गठित (आविद्ध) और उद्धत पदों से सम्पन्न गद्य 'उत्कलिकाप्राय' गद्य की संज्ञा प्राप्त करता है। जैसे—

"वज्रकोटि के समान तीखे नाखूनों के कारण भयंकर थप्पड़ से फाड़े हुए मत्त हाथी के कुम्भस्थल से गिरती हुई मद की धारा से भीगे हुए अयालों के समूह से चमकते हुए मुख वाले सिंह के होने पर।"

निष्कर्ष—इस प्रकार काव्य के दो भेद गद्य और पद्य वामन को मान्य हैं। वह गद्य भी तीन प्रकार का—(१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण तथा (३) उत्कलिकाप्राय होता है।

---

१७. मिश्रकाव्य प्रबन्धेषु नाटकमथ प्रकरणम्

नाटकमथ..**दश ॥**

[सा० द० ६।२]

अनुवाद—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी, प्रहसन ये दश रूपक के भेद हैं।

तत्र नाटकम्—रूपक के दश भेदों के अन्तर्गत सर्वप्रथम नाटक के लक्षणादिकों का वर्णन करते हैं—

कारिका

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धि समन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादि..............................**कीर्तितम् ॥**

[सा० द० ६।७-११]

अनुवाद—नाटक का कथानक ख्यात अर्थात् रामायणादि की भाँति इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिए। (जो कथा इतिहास सिद्ध नहीं होती, केवल कवि कल्पित होती है वह नाटक की कथावस्तु नहीं हो सकती)। नाटक की वस्तु पञ्चसन्धियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति या निर्वहण से समन्वित होनी चाहिए। (नाटक की समग्र कथावस्तु पञ्चसंधियों में विभक्त होनी चाहिए)। नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। सुख और दुःख की उत्पत्ति का प्रदर्शन होना चाहिए। नाटक अनेक रसों से पूर्ण होना चाहिए। पाँच से लेकर उसमें दस तक अङ्क होने चाहिए। नाटक का नायक इतिहास-पुराणादि में प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापवान, कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य गुणवान् पुरुष होता है। नाटक में शृङ्गार या वीर में से कोई एक रस प्रधान रहता है—शेष सब रस अङ्गरूप में रह सकते हैं, रहते भी हैं। नाटक को निर्वहण सन्धि में अत्यन्त अद्भुत होना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में लगे रहने चाहिए, अर्थात् चार या पाँच महत्वपूर्ण पात्र होने चाहिए और गौ की पूँछ के अग्र भाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए।

व्याख्या—नाटक की विधा प्राचीनतम है, उसके मूल में अनुकरण की भावना प्रधान है, इसीलिए उसकी परिभाषायें—**'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** तथा **'रूपकं**

तत्समारोपात्' आदि है। इस प्रकार नाटक एवं रूपक दोनों ही पर्यायवाची होते हुए भी उनमें मूल अन्तर है। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति की प्रधानता है जबकि रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् अवस्था की अनुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप 'रूपक' कहा जा सकता है। समस्त काव्यशास्त्री एवं नाट्याचार्य नाटक को रूपकों का श्रेष्ठतम प्रकार मानते हैं। डा० सत्यव्रतसिंह ने 'साहित्यदर्पण विमर्श' में लिखा है कि (क) 'नाटक' में अन्य रूपक प्रकारों की अपेक्षा रञ्जनाधिक्य रहा करता है, अधिकाधिक रसाविर्भाव हुआ करता है और सर्वाङ्गीण अभिनय-सौन्दर्य दिखायी दिया करता है। दशरूपककार ने 'नाटक' को अन्य रूपक-प्रकारों की 'प्रकृति' माना है जिसका संकेत यह है कि प्रकरणादि नाटक के 'विकृति' रूप हैं—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ।। [दशरूपक ३।१]

'नाटक' रचना कितनी बड़ी नाट्य-कला साधना है इसे 'भावप्रकाशन' कार के इन शब्दों में देख सकते हैं—

"अपि सिध्येत विदुषां मुक्तिरभ्यासकौशलात् ।
न तु नाटक विद्येयं सर्वलोकानुरञ्जिनी ।।"

(ख) 'नाटक' शब्द की यह व्युत्पत्ति—

'नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन ।
सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम् ।।

[नाट्यदर्पण १।५]

रूपकों में 'नाटक' की महत्ता को स्पष्ट प्रकट कर देती है। अन्य-रूपकों में **'रञ्जना'** का समावेश रहा करता है किन्तु 'नाटक' की **'रञ्जना'** कितनी विचित्र हुआ करती है कि इससे सामाजिकों का हृदय नाच उठता है।

संस्कृत साहित्य में नाटक भी प्रधानतः काव्य ही माना जाता है। दोनों का प्रमुख उद्देश्य आनन्द-प्राप्ति माना जाता है। इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य अनेक उद्देश्य या प्रयोजन—**धर्मार्थकादि** माने गये हैं। नाटक की **कथावस्तु** नाटक का महत्वपूर्ण तत्व है, इसे कथा, वस्तु, इतिवृत्त (Plot) आदि नामों से पुकारा जाता है। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। आधिकारिक कथावस्तु प्रधान कथा होती है दूसरी गौण। प्रमुख कथा को आधिकारिक कथा इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसका सम्बन्ध 'अधिकार' नायक के फलस्वामित्व, या फल प्राप्त करने की योग्यता से है। "आधिकारिक वस्तु रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, वह नायक के जीवन की उस महासरिता से सम्बद्ध है, जो निश्चित फल की, निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है। प्रासङ्गिक वस्तु इसी महासरिता में गिर कर

उसके प्रवाह में अपनापन खो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु को गति देने वाले क्षुद्र नदी, नद व नाले हैं। उदाहरण के लिए रामायण की वस्तु में 'रामचन्द्र की कथा आधिकारिक वस्तु है, सुग्रीव या शवरी की कथा प्रासङ्गिक।"

कथावस्तु को नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में तीन प्रकार का माना गया है— (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य तथा (३) मिश्र। किन्तु उपर्युक्त विश्वनाथ कृत नाटक की परिभाषा में कथावस्तु को प्रख्यात स्वीकार किया गया है। "प्रख्यात इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण या बृहत्कथादि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होता है। इस प्रकार का इतिवृत्त प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, भवभूति के 'उत्तररामचरित' 'तथा मुरारि के' 'अनर्घराघव' की कथा रामायण से ली गई है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण से गृहीत है। भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्', प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' तथा 'विशाखदत्त' का 'मुद्राराक्षस' ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध हैं। इनका मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी है।" नाटक की कथा के लिए आवश्यक है कि वह वृत्त प्रख्यात हो। दशरूपककार ने इस विषय में लिखा है—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या —
च्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः॥

उत्पाद्य इतिवृत्त स्वयं कविकल्पित होता है—"**उत्पाद्यं कविकल्पितम्**"। यह वृत्त प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि में विशेष रूप से अपनाया जाता है। मृच्छकटिक तथा मालतीमाधव की कथा उत्पाद्य है।

मिश्र इतिवृत्त की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है पर उसमें बहुत भाग कल्पित भी होता है।

नायक—नाटक के नायक को प्रख्यात वंश में उत्पन्न तथा धीरोदात्तादि गुणों से समन्वित होना चाहिए। नायक के गुणों के विषय में दशरूपककार ने लिखा है कि—"नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोगों को खुश रखने वाला, पवित्र मन वाला, बातचीत करने में कुशल, कुलीन, स्थिर, युवा होना चाहिए। वह बुद्धि, उत्साह, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त होता है; शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होता है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

[दशरूपक २।१-२]

नायक की प्रकृति के आधार पर नायक चार प्रकार के नाट्यशास्त्र में बतलाये गये हैं—"ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं, धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है। नायक का पहला प्रकार 'ललित या धीरललित' है; दूसरा शान्त या धीरशान्त' (धीरप्रशान्त); 'तीसरा 'उदात्त या धीरोदात्त' और चौथा 'उद्धत या धीरोद्धत'। इनके उदाहरण क्रमशः वत्सराज उदयन, चारुदत्त, राम तथा भीमसेन माने जा सकते हैं।"

धीरोदात्त—"इस प्रकृति का नायक भी प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निरभिमानी, अत्यन्त गम्भीर, स्थित तथा अविकत्थन होता है, जिस व्रत को वह धारण कर लेता है उसे छोड़ता नहीं। धीरोदात्त नायक, नायक के सम्पूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का व्यक्ति चुना जाता है। उत्तर रामचरित के रामचन्द्र या अभिज्ञानशाकुन्तल का दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं।"

नायकों के लक्षण-उदाहरण—

धीरोदात्त—महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥
[दशरूपक २।४-५]

अर्थात् धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहंकार वाला तथा **दृढ़व्रती** होता है।

धीरप्रशान्त—सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। [दशरूपक २।४]
धीरललित—निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः। [दशरूपक २।३]
धीरोद्धत—दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ [दशरूपक २।५-६]

ख्यातं..............................**कानिचित् इति**॥

भावार्थ—ख्यात-रामायणादि प्रसिद्ध वृत्त जैसे रामचन्द्र की कथा। संधियों का वर्णन आगे करेंगे। 'नाना विभूतियुक्त' अर्थात् बड़े-बड़े सहायकों से युक्त हो। सुख-दुःख की घटनायें राम-युधिष्ठिर आदि के चरित्रों में स्पष्ट हैं। राजर्षि जैसे दुष्यन्तादिक। 'दिव्य' श्रीकृष्णादिक दिव्यादिव्य अर्थात् जो दिव्य होने पर भी अपने को अदिव्य (मनुष्य) समझे—जैसे श्रीरामादिक। 'गोपुच्छाग्रसमाग्रम्' इसका कोई तो यह अर्थ करते हैं कि नाटक में क्रमशः उत्तरोत्तर अङ्कों को छोटा होना चाहिए। किन्तु दूसरे इसका यह अर्थ करते हैं कि जैसे गौ की पूँछ में कुछ बाल छोटे होते हैं, कुछ बड़े। इसी तरह नाटक में कुछ कार्य मुखसन्धि में ही समाप्त हो जाना चाहिए। कुछ आगे प्रतिमुख सन्धि में, इसी तरह कुछ आगे पहुँचकर होने चाहिए। वास्तव में '**गोपुच्छाग्रसमाग्रम्**' का आशय यह है "कि गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान नाटक का अग्रभाग होना चाहिए। अर्थात् जैसे गौ की पूँछ के अग्रभाग में दो-एक

बाल ही सबसे बड़ा दीखता है। इसी प्रकार नाटक आरम्भ में एकाध व्यापक बात से आरम्भ होना चाहिए और गोपुच्छ के बालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ के एक स्थान पर समन्वित हो जाती है। इसी प्रकार नाटक की बातों में भी होना चाहिए। क्रम से परिवृद्ध सब कथाओं का एक उपसंहार में समन्वय होना चाहिए।"

[साहित्य दर्पण, हिन्दी टीका शालग्राम कृत, पृ० १७१]

नाटक की रचना 'गोपुच्छाग्र' समान हो, यह भरतसम्मत मान्यता है। उनका इस प्रकार कथन है—

कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य।
ये चोदात्ताः भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः॥

[नाट्यशास्त्र, २०।४६]

नाट्यदर्पण में 'गोपुच्छाग्र' को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

गोपुच्छकेशकल्यानि नाट्यवस्तूनि कल्पयेत्।
उदात्ता रञ्जका भावा स्थापनीया पुरः पुरः॥

[नाट्यदर्पण १।१७]

गोपुच्छस्य च केशाः केचित् स्तोकमात्रयायिनः केचिन्मध्यावधयः केचिदन्त-व्यापिनः। एवं प्रबन्धवस्तून्यपि। यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः, मुखोपक्षितो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे, रत्नावलीप्राप्तादयश्च साररूपा पदार्था अन्त इति। उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः। अनुदात्ता अपि ये रञ्जका भावास्ते सकलस्यापि प्रबन्धस्य रसारोहार्थं पुनः पुरोनिवेशनीयाः।"

प्रत्यक्षनेतृचरितो......................विनिर्मितः॥

[सा० द०, ६।१२-१३]

अनुवाद—अङ्क में नेता का चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए। रस तथा भावपूर्ण हो। गूढार्थक शब्द न हों। स्वल्पकाय चूर्णक (बिना समास के गद्य) होने चाहिए। अङ्क में अनेक प्रकार के संविधान हों, किन्तु पद्य अधिक नहीं होने चाहिए। इस अङ्क में आवश्यक संध्यावंदनादिक कार्यों का न तो विरोध होना चाहिए और न इनका उल्लंघन ही।

व्याख्या—अङ्क नाटक का एक प्रमुख विभाग है। संस्कृत के नाटकों में इनकी संख्या पाँच से आठ-दस तक मानी गई है। अंकों में वस्तुविन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। दशरूपककार ने नाटक का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

अङ्क इतिरूढ़िशब्दो, भावैश्चरसैः प्ररोहत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः।

राजशेखर के मत में अंक में वर्णित कथावस्तु एक दिन की ही होनी चाहिए—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्कः सप्रयोगमधिकृत्य" ।

अथ प्रकरणम्

अथ प्रकरणे..रसादिकम् ।।

[**दशरूपक,** ३।३९–४०]

अनुवाद—"प्रकरण की कथावस्तु कल्पित तथा लोक-संश्रय अर्थात् अनुदात्त होती है । लोक संश्रय का आशय यह है कि यह राजा, मन्त्री आदि की कथा न होकर मध्य वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है । इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या बनिये में से कोई एक हो सकता है । इसका नायक धीर प्रशान्त श्रेणी का होता है, तथा विघ्नों से पूर्ण होता है । यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम में निरन्तर संलग्न होता है । प्रकरण के अन्दर नाटक की तरह ही सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का समावेश होता है ।

कविबुद्धि..प्रकरणे ।।

भावार्थ—प्रकरण का वृत्त (कथावस्तु) कवि-बुद्धि विरचित तथा लोक संश्रय अर्थात् अनुदत्त होता है । मन्त्री आदि में से कोई एक इसका नायक होता है, वह धीर प्रशान्त होता है और उसके कार्य में अनेक विघ्न आते हैं, अतः सफलता अन्तरायों से पूर्ण होती है ।

समीक्षा—संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध **'मृच्छकटिक'** नामक नाटक प्रकरण है । यह **शूद्रक** रचित है । इसकी कथा कविकल्पित तथा लोक संश्रय है । इसका नायक धीरप्रशान्त चारुदत्त ब्राह्मण है । इसका रस श्रृंगार है । दूसरा प्रकरण भवभूति रचित **मालती माधव** है । इसकी कथा भी कविकल्पित है । इसका नायक ब्राह्मण तथा धीरप्रशान्त है । इन दोनों प्रकरणों के नायक अनेक विघ्नों का सामना करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम कह सकते हैं कि नाटक एवं प्रकरण का स्थूल अन्तर इस प्रकार है—

१. नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होती है, जबकि प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य ।
२. नाटक में पांच से दश तक अंक होते हैं । प्रकरण के अंकों की संख्या भी इतनी ही होती है ।
३. पंचसन्धि को दोनों में ही समान महत्व प्राप्त है ।
४. नाटक का नायक धीरोदात्त होता है जबकि प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त ।
५. नाटक में श्रृंगार एवं वीर में से कोई एक रस अङ्गी होता है तथा अन्य रस अङ्ग । किन्तु प्रकरण का अङ्गी रस श्रृंगार होता है ।
६. नाटक में कैशिकी या सात्वती वृत्ति का प्रयोग होता है जबकि प्रकरण में केवल कैशिकी का ।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रकरण पर विस्तार से विवेचन हुआ है, उसका सार यहाँ द्रष्टव्य है—

'प्रकरण' के अस्तित्व को भरतमुनि ने भी स्वीकार किया है, उनके अनुसार 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार है—"प्रकरण भी नाटक की तरह रसाश्रित और पंचसंधि समन्वित होता है। इसमें विप्र, वणिक, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह के चरित्र वर्णित होते हैं, जिसका नायक न तो उदात्त पुरुष होता है और न दिव्य-चरित, जिसमें राजसम्भोग का वर्णन नहीं होता, जिसमें दास, विट, श्रेष्ठी, वेश्या, हीन-कुलवधू का चरित होता है। जिस अंक में मन्त्री, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह की गृहवार्त्ता हो, उसमें वेश्या का प्रवेश वर्जित है। जिस अंक में वेश्या के साथ कोई पुरुष दिखाई पड़े, उसमें कुलवधुओं का प्रवेश निषिद्ध है।"

[**भरत नाट्यशास्त्र**, ३१८।९८-१०३]

नाट्यदर्पणकार ने प्रकरण का लक्षण इस प्रकार दिया है। इनके विचार भरत तथा धनंजय से मिलते-जुलते हुए ही हैं—"अन्तर केवल इतना ही है कि वे प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही नहीं धीरोदात्त भी मानते हैं। नायिका के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह नीच जाति की भी हो सकती है।" प्रकरण के वर्गीकरण की दृष्टि से जहाँ धनंजय उसके केवल तीन ही भेद मानते हैं वहाँ नाट्यदर्पणकार इक्कीस भेद स्वीकारते हैं।

[ना० द०, पृ० १७७ एवं १९]

शारदातनय ने भावप्रकाश में 'प्रकरण का नायक धीरशान्त माना है। भाषा की दृष्टि से वे कहते हैं कि यदि नायिका वेश्या हो तो उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए और यदि कुल नायिका हो तो भाषा संस्कृत ही उचित है। शारदा-तनय प्रकरण में शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र-बहिष्कृत विट, चेट आदि की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं।"

[भा० प्र०, ८ वाँ अधिकरण]

"साहित्यदर्पणकार ने श्रृंगार को विशेष महत्व देते हुए इसका नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य को आवश्यक माना है। वे नायक को धीर प्रशान्त मानते हैं।"

[सा० द० ४६।२२४-२२६]

डा० राघवन ने प्रकरण पर विस्तार से विचार किया है। उनका मत है कि "भारतीय मत की सीमा के अन्तर्गत प्रकरण में त्रासद तत्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। प्रकरण में कैशिकीवृत्ति का अभाव इसका प्रमाण है। 'मृच्छकटिक', 'तरंगदत्त', 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणों के पर्यवेक्षण से यह सिद्ध होता है कि प्रकरण में त्रासद तत्त्व का होना अनिवार्य है। अश्वघोष के 'सारिपुत्रप्रकरण' से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रकरण को धार्मिकता का रूप भी दिया जाता था। इस प्रकरण में बुद्ध की जीवनी के साथ सारिपुत्र, ब्राह्मण मौदगयंलान एवं विदूषक भी पात्र के रूप में आते हैं।"

[**द सोसल प्ले इन संस्कृत** पृ० ५-६]

निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि 'प्रकरण का कथानक लौकिक और कविकल्पित होता है। उसका नायक धीर और शान्त होता है, अर्थात् वह मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है, धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है। प्रकरण में नायिका कुलकन्या या वेश्या होती है और कहीं-कहीं दोनों भी। इस दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद माने गये हैं—

(१) जिसमें नायिका कुल-कन्या हो, वह शुद्ध,
(२) जिसमें वेश्या हो, वह विकृत, और
(३) जिसमें दोनों हों, वह संकीर्ण।

'तरंग दत्त' और 'मालतीमाधव' शुद्ध प्रकरण हैं, 'पुष्पदूतिका' विकृत है, 'मृच्छकटिक' संकीर्ण है। संकीर्ण प्रकरण धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रों से संकुल रहता है। रस, सन्धि, प्रवेशक आदि बातों में प्रकरण नाटक के ही समान होता है। इसमें त्रासद तत्वों का बाहुल्य होता है। इस प्रकार अंग्रेजी के ट्रैजेडी का रूप इसमें प्रायः देखने को मिलता है।''

[साहित्यकोश, पृ० ५०४]

---

१८. काव्यप्रबन्धेषु रसविनियोगः

कारिका

प्रसिद्धेऽपि........................मिच्छता ॥३।२१॥

अनुवाद—महाकाव्य-नाटकादि प्रबन्धों में अनेक रसों का सन्निवेश (प्रयोग) प्रसिद्ध होने पर भी उनके (काव्यादि के) उत्कर्ष को चाहने वाले कवियों को किसी एक रस को अङ्गीरस बनाना चाहिए।

व्याख्या—इस कारिका से आनन्दवर्धन का आशय यह है कि प्रबन्ध में अनेक रस होते हैं, हो सकते हैं। इन रसों के कारण काव्य महत्वपूर्ण भी होता है, किन्तु कवि को एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि अनेक रसों का सन्निवेश होने पर भी अङ्गी (प्रधान) रस एक ही होना चाहिए।

वृत्ति

प्रबन्धेषु..............................विनिवेशयितव्यः।

भावार्थ—महाकाव्य खण्डकाव्यादि अथवा नाटक आदि प्रबन्धों में अलग-अलग रूप में अङ्गाङ्गिभाव से अनेक रसों का प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार की परम्परा-परिपाटी होने पर भी जो कवि प्रबन्ध का सौन्दर्योत्कर्ष चाहता है, उसे विभिन्न उन रसों में से किसी एक अभिमत रस को ही प्राधान्येन अङ्गी भाव से समाविष्ट करना चाहिए।

अभिनेय नाटक हो या अनभिनेय काव्य, सर्वत्र अनेक रसों का नायकों के अनुरूप प्रयोग होता है किन्तु काव्य की सफलता को चाहने वाले कवि को यही अभीष्ट है कि वह किसी एक अङ्गी रस को अपना प्रतिपाद्य मानकर उसका सन्निवेश करे। आशय स्पष्ट ही यह है कि काव्यादि में एक ही रस की मुख्यता होनी चाहिए।

कारिका

रसान्तरसमावेशः................भासिनः ॥३।२२॥

अनुवाद—अन्य रसों के साथ प्रस्तुत प्रधान रस का जो समावेश है, वह स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले इस प्रधान रस की अङ्गिता का बाधक नहीं होता है।

व्याख्या—आनन्दवर्धनाचार्य का मत है कि अनेक रसों के एक साथ पुष्ट होने पर उनमें से किसी एक का अङ्गी होना परस्पर विरोधी नहीं होगा, यदि किसी को यह आशंका हो कि वे परस्पर विरोधी होंगे तथा काव्य सौन्दर्य के विघातक होंगे,

इसके उत्तर में **'रसान्तरसमावेश'** कारिका लिखकर वे कहते हैं कि प्रधान रस का अन्य रसों के साथ समावेश और परिपाक परस्पर किसी भी प्रकार का अङ्गीरस की प्रधानता का बाधक नहीं होता है।

वृत्ति

प्रबन्धेषु..................................मुपहसन्ति ॥

भावार्थ—[उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में भी आनन्दवर्धन इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि] काव्यनाटकादि प्रबन्धों में अन्य रसों की अपेक्षा प्रथम प्रस्तुत तथा पुनः प्राप्त होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य में उपलब्ध, उस रस का बीच-बीच में प्राप्त होने वाले अन्य रसों के साथ जो समावेश है, वह अङ्गी तथा प्रधान रस के प्राधान्य का विघातक नहीं होता है।

आशय यह है कि काव्य के अनेक रसों में एक प्रधान रस तथा शेष अन्य अप्रधान रस होने चाहिए। इन रसों में एक की प्रधानता में अन्य रस विघातक नहीं होते हैं। जिस प्रकार काव्य में आद्योपान्त व्यापक एक प्रधान कार्य होता है, उसके परिपोष के लिए अनेक प्रासङ्गिक कार्य भी होते हैं किन्तु वे किसी प्रकार प्रधान कार्य के विघातक नहीं होते, इसी प्रकार काव्य के रसविधान में प्रबन्धव्यापी एक अङ्गी रस के साथ अन्य अङ्गभूत अवान्तर रसों का समावेश किसी प्रकार विघ्न उपस्थित नहीं करता है अपितु काव्य के सौन्दर्य का वर्धन ही करता है।

---

१९. काव्यप्रबन्धेषु रीतयः

मूलपाठ

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चालीलाटिका तथा ॥

अनुवाद—'पदों के मेल या संगठन का नाम रीति है। वह अङ्ग संस्थान की तरह मानी जाती है। वह काव्य के आत्मभूत तत्व रस भाव आदि की उपकारक होती है। वह चार प्रकार की होती है। वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी।

व्याख्या—पदों की विशिष्ट रचना को रीति कहते हैं—**"विशिष्टा पदरचना रीतिः"**। यह रीति काव्य में शरीर के समान है। जिस प्रकार मानव शरीर का गठन होता है, उसी प्रकार काव्य के शरीर रूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीर रचना देखने में माधुर्य, सौकुमार्य, आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है, और उससे उस शरीरधारी के गुणों का ज्ञान होता है, इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्यादिगुणों के व्यंजन के द्वारा रस-भाव आदि का उत्कर्ष होता है।

वैदर्भी

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

अनुवाद—माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के द्वारा रचित समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं।

व्याख्या—वैदर्भी रीति की रचना माधुर्यव्यंजक वर्णों से होती है, वर्णों में "ट, ठ, ड, ढ इन वर्णों को छोड़कर जो वर्ण आदि में अपने वर्ग के अन्तिम अक्षर—ञ, म, ङ, न से युक्त हों, वे और ह्रस्वस्वर से युक्त 'र' और 'ण' माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। इसी प्रकार समास रहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक होती है।"

उदाहरणः—**लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवलिपुञ्जं चपलयन् ।**
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुन्मदं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन् ।
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ।।

वैदर्भी रीति के समस्त लक्षण इस श्लोक पर घटित होते हैं । इस श्लोक में माधुर्य व्यंजक 'न्', 'न' आदि अक्षरों के साथ चवर्ग का 'ज', तवर्ग 'त' और 'द' वर्ण हैं, ये समस्त वर्ण माधुर्य व्यंजक हैं, प्रायः समस्त वर्ण ह्रस्वस्वर से युक्त है। समास रहित रचना है । अतः यहाँ वैदर्भी रीति है ।

लताकुंज..............................दिशि-दिशि ।।

अर्थ—"लता के कुञ्ज को गुञ्जरित, मदमत्तभ्रमरों को चपल, अङ्गों से आलिङ्गन करता हुआ, कामदेव को प्रबल बनाता हुआ, विकसित कमलों को चञ्चल बनाता हुआ, रजोवृन्द को ग्रहण करता हुआ यह मन्द-मन्द प्रवाहित होने वाला पवन समस्त दिशाओं में मकरन्द की वृष्टि कर रहा है ।"

गौडी रीति

कारिका— **ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।**
समासबहुला गौडी..................... ।

अनुवाद—ओज को व्यक्त करने वाले कठिन वर्णों से निर्मित अधिक समासों से युक्त शब्दाडम्बरों से युक्त बन्ध को गौडी रीति कहते हैं ।

व्याख्या—कठोर वर्णों वाली तथा विकट बन्ध वाली ओजपूर्ण रचना गौडी रीति कहलाती है । पुरुषोत्तम ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"बहुत से समासों से व्याप्त, बड़े-बड़े महाप्राण प्रयत्न वाले अक्षरों से युक्त, अनुप्रास, यमक आदि शब्द महिमा के रक्षण में व्यग्र अर्थात् अधिकतर अनुप्रासादि से युक्त और थोड़े वाक्यों वाली रीति को गौडी कहते हैं—

बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया ।
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोक वाक्या च ।।

इस रीति में प्रयुक्त वर्ण निम्न हैं—"वर्गों के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर क्ख, च्छ इत्यादि और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर—ग्घ, ज्झ इत्यादि, ऊपर या नीचे अथवा दोनों जगह रेफ से युक्त अक्षर—धर्म, आम्र, श्रीम्र्दिम्ना आदि और ट, ठ, ड, ढ, श, ष ये सब अक्षर ओज के व्यंजक होते हैं ।"

उदाहरण— **चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात—**
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि—
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ।।

[वेणी संहार १।२०]

यह श्लोक ओजगुण सम्पन्न, संयुक्ताक्षरों से पूर्ण तथा अन्य गौडीवृत्ति की विशेषताओं तथा वर्गों से युक्त है। अतः इस श्लोक में गौडी रीति स्पष्ट है।

अर्थ—"हे देवि! (द्रौपदि!) चञ्चल भुजाओं से घुमाई गयी भीषण गदा के प्रहार से जिसकी दोनों जांघें चूरचूर (चकनाचूर) हो गई हैं, ऐसे दुर्योधन के जमे, लिपे और गाढ़े रक्त से लाल हाथों वाला यह भीम तुम्हारे केशों को अलंकृत करेगा—बाँधेगा।"

पाञ्चाली

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मतः॥
द्वयोर्वैदर्भी गौड्योः।

अनुवाद—उपर्युक्त वैदर्भी एवं गौडी रीतियों से जो शेष वर्ण हैं, उनसे जो रचना रची जाय, और जिसमें पाँच-छः पदों का समास हो वह पाञ्चाली रीति कहलाती है।

व्याख्या—वैदर्भी एवं गौडी रीति में क्रमशः माधुर्य व्यंजक तथा ओज व्यंजक वर्णों का प्रयोग होता है किन्तु पाञ्चाली में उन वर्णों का प्रयोग होता है, जो न तो माधुर्य-व्यंजक हैं और न ओज व्यंजक। इसमें छोटे-मोटे समास को भी स्वीकार किया जाता है। भोज ने इस रीति का यह लक्षण दिया है—"जिसमें पाँच-छः पदों का समास हो, ओज और कान्ति नामक गुण से जो युक्त हो और मधुर एवं सुकुमार हो उस रीति को कवि गण 'पांचाली' कहते हैं—

समस्तपञ्चषपदामोजः कान्तिसमन्विताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो बिदुः॥

उदाहरण— **मधुरया मधुबोधितमाधवी—**
मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद—
ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

इस रचना में न तो माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं और न ओजो व्यंजक वर्ण, उनसे भिन्न यह रचना है, किन्तु मधुरता और सुकुमारता यहाँ विद्यमान है, इसमें पाँच-छः पदों के समास भी हैं, अतः यह श्लोक पाञ्चाली रीति का उदाहरण है।

अर्थ—"वसन्त से बोधित (खिलाई गई) माधवी (वासन्ती लता) की मधु समृद्धि (पुष्परस की वृद्धि से अर्थात् माधवी के पुष्परस का पान करने से बढ़ गई है बुद्धि अथवा मस्ती जिसकी उस मस्त ध्वनि वाली, मधुर स्वर युक्त भ्रमरी ने बार-बार दबे हुए अक्षरों में गाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार गाना प्रारम्भ किया जिसमें अक्षर प्रतीत नहीं होते—केवल गुनगुनाहट ही सुनाई देती है।"

लाटी

"लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता"

अनुवाद—वैदर्भी एवं 'पांचाली' इन दोनों रीतियों के मध्य की रीति लाटी है।

व्याख्या—वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीति की अनेक विशेषताओं से युक्त रीति लाटी है। इसमें कुछ वैदर्भी की और कुछ पाञ्चाली रीति की विशेषताओं का समावेश रहता है। किसी एक अन्य काव्यशास्त्री ने इस रीति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"जो कोमल पदों और सुकुमार समासों से सुन्दर हो और बहुत से संयुक्त अक्षरों से युक्त न हो एवं समुचित विशेषणों के द्वारा जिसमें वस्तु वर्णित हो उसे लाटी रीति कहते हैं—

"मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी॥"

उदाहरण—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना—
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥

इस उदाहरण के पद्य का प्रथम चरण कोमलकान्त पदावली में है जहाँ 'ञ्ज'—'न्द्व'—'न्द' आदि माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं, जो वैदर्भी रीति में प्रयुक्त होते हैं। अन्य चरणों की रचना समस्त तथा वर्ण ओज गुण व्यंजक—द्र, क्र, म्र, ह-भ आदि हैं जो पाञ्चाली रीति के पोषक हैं। इन रीतियों के लक्षणों से समन्वित यह उदाहरण लाटी रीति का है।

अर्थ—इस पद में सूर्योदय का वर्णन है—"पद्मिनियों की मौन-मुद्रा का भंजक अर्थात् कमलिनियों को विकसित करने वाला, उदयाचल की वनपंक्ति में स्थित मन्दार का नया पुष्प और विरह से पीड़ित चक्रवाक युगल का मित्र (रात्रि में वियुक्त चक्रवाक युगल का मिलन कराने वाला) क्रोध में भरे बन्दर के कपोल के समान (रक्त वर्ण) यह सूर्य अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ उदित हो रहा है।"

समीक्षा—रीति तत्व की चर्चा नाट्यशास्त्र में भी मिलती है। किन्तु संस्कृत साहित्य में रीति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। विभिन्न काव्यशास्त्री अपने-अपने दृष्टिकोण से रीति का प्रयोग और उसकी व्याख्या करते हैं, उदाहरणार्थ भामह **'काव्य'**, दण्डी और भोज **'मार्ग'**, वामन 'रीति', आनन्दवर्धन 'पदसंघटना', रुद्रट एवं मम्मट 'वृत्ति' और विश्वनाथ 'रीति' कहते हैं। भोज रीङ्गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से 'रीति' शब्द को निष्पन्न मानते हैं और इसका अर्थ वे मार्ग (पन्थाः) करते हैं—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः साव्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

[स० क०, २।२७]

रीति सम्प्रदाय के आचार्यों में वामन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । वामन ने रीति को काव्य की आतमा घोषित किया है—"**रीतिरात्मा काव्यस्य**" । वामन के अनुसार पदों की विशिष्ट रचना रीति है—"**विशिष्टा पदरचना रीतिः**" । विशिष्ट से उनका आशय गुणों से है, गुण सम्पन्नता काव्य-सौन्दर्य का मूलतत्व है, इस प्रकार रीति का मूलाधार तत्व गुण है । आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य-तत्व का प्रस्फुटन रीति-सम्प्रदाय में विशेष हुआ है । यह सम्प्रदाय काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है ।

---

२०. काव्यप्रबन्धेषु गुणत्रयम्

कारिका

ये रसस्या.............................न पुनर्दश ।

अनुवाद—"जिस प्रकार शूरता आदि आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार जो काव्य में प्रधान रूप से (आत्मावत्) स्थित रस के धर्म हैं तथा रस के साथ निश्चित स्थिति वाले हैं, ऐसे रसोत्कर्षी धर्म (काव्य में) गुण कहलाते हैं। वे गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन ही हैं, दश नहीं, जैसा कि वामन आदि प्राचीन आचार्यों की मान्यता है।

उन (गुणों) का क्रमशः लक्षण कहते हैं—

माधुर्यम्

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥

[का० प्र०, ८।६८-६९]

अनुवाद—"चित्त की द्रुति का कारण जो आह्लाद या आनन्दस्वरूपता है, वही माधुर्य गुण है और वह श्रृङ्गार रस में होता है। वह माधुर्य करुण, विप्रलम्भ श्रृङ्गार तथा शान्त रस में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हो जाता है, (क्योंकि वह क्रमशः अत्यधिक द्रुति का कारण होता है।)

व्याख्या—माधुर्य केवल सम्भोग श्रृंङ्गार में ही नहीं रहता, वह करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार तथा शान्त रस में अधिक रहता है। सहृदयों का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि चित्त करुण, विप्रलम्भ श्रृङ्गार तथा शान्त रस में अधिक द्रवित होता है।

ओज

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥

[का० प्र०, ८।६९-७०]

अनुवाद—दीप्तिरूप चित्त (आत्मा) के विस्तार का कारण ही ओजगुण है, उसकी स्थिति वीररस में होती है। क्रमशः बीभत्स, तथा रौद्र रस में उसकी अधिकता होती है।

व्याख्या—चित्त की विशिष्ट वृत्ति का नाम दीप्ति है, इस दीप्ति का हेतु तथा रस का जो धर्म है उसका नाम ओज है। वीर की अपेक्षा बीभत्स तथा रौद्र में ओज

की अधिकता होती है क्योंकि "वीर में तो द्वेष्य के प्रति जीतने की इच्छा मात्र होती है, बीभत्स में प्रबल त्याग की इच्छा होती है तथा रौद्र में तो अपकारी के वध की ही इच्छा होने लगती है। इस प्रकार क्रमशः चित्त की दीप्ति अथवा प्रज्वलन अधिक ही होता जाता है इसलिए उत्तरोत्तर ओज की अधिकता मानी जाती है।"

प्रसाद

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥
अन्यदिति.............................रचनासु च ॥

अनुवाद—"जिस प्रकार शुष्क ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल शीघ्र ही समाविष्ट हो जाता है उसी प्रकार जो गुण शीघ्र ही चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है, वह सर्वत्र विद्यमान रहता है।

इस कारिका में प्रयुक्त अन्यत् का अर्थ है—व्याप्य जो यहाँ पर 'चित्त' है। सर्वत्र-समस्त रसों और समस्त रचनाओं में।

व्याख्या—प्रसाद गुण की एक विशेषता है—चित्त का विकास। इस गुण की विशेषता के कारण रस शीघ्र ही हृदय को प्रभावित कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शुष्क काष्ठ में अग्नि। यह प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म है तथा समस्त रस इसके आधार हैं।

कारिका

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता"

अनुवाद—उन माधुर्यादि गुणों की शब्द तथा अर्थ में स्थिति तो केवल गौण-रूप से—औपचारिक मानी जाती है।

गुणवृत्या अर्थात् उपचार से। तेषां-गुणों की। आकार में शौर्यादि के समान।

व्याख्या—इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए डा० श्रीनिवास शास्त्री ने लिखा है कि "माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं तथापि मधुर शब्द हैं। मधुर अर्थ है। यह विद्वानों का व्यवहार देखा जाता है। आचार्य मम्मट ने भी 'शब्दार्थौ सगुणौ' यह काव्य के लक्षण में ही कहा है। कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदि गुणों का शरीर में भी गौण रूप से व्यवहार होता है (आकार एवास्य शूरः) इसी प्रकार माधुर्य आदि यद्यपि रस के धर्म हैं तथापि गुणव्यंजक सुकुमार आदि वर्णों को, अर्थों को तथा रचनाओं को भी गौण रूप से मधुर कह दिया जाया करता है। शब्द और अर्थ आदि में माधुर्य आदि का व्यवहार औपचारिक या लाक्षणिक है, यह भाव है।" [काव्यप्रकाश, पृ० ४२०]

---

२१. काव्यप्रबन्धेषु शब्दालङ्कारविशेषाः

अनुप्रासः

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् । [सा० द०, १०।३]

अनुवाद—स्वर की विषमता होने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य को 'अनुप्रास' कहते हैं। आशय यह है कि स्वर की समानता हो या न हो किन्तु अनेक स्वर जहाँ एक से मिल जायें, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।

स्वरमात्र..........................न्यासोऽनुप्रासः ।

अनुवाद—स्वरों की समता में ही वैचित्र्य नहीं रहता है। यही नहीं व्यंजनों की समता के समान उसमें चमत्कार भी नहीं होता है, इसलिए उसकी गणना यहाँ नहीं की है। अनुप्रास शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार है—"रस, भाव आदि के अनुकूल प्रकृष्ट न्यास को अनुप्रास कहते हैं।" इस अर्थ से यह भी स्पष्ट है कि रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट रचना का नाम अनुप्रास है। अतः रस के प्रतिकूल वर्णों की समता को अनुप्रास नहीं कहा जा सकता।

छेकानुप्रासः

छेको व्यंजनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ [सा० द०, १०।३]

छेकश्छेकानु..............................विषयः ॥

अनुवाद—छेकानुप्रास का लक्षण करते हुए साहित्यदर्पणकार लिखते हैं कि "व्यंजनों के समूह का एक ही बार अनेक प्रकार का साम्य होने को 'छेक' अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। इस लक्षण में अनेक प्रकार के साम्य का यह अभिप्राय है कि स्वरूप से तथा क्रम से भी समानता होनी चाहिए। अर्थात् एक ही स्वरूप के व्यंजन यदि उसी क्रम से दूसरी बार आयें तभी छेकानुप्रास होता है अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए—

'रसः सरः' यहाँ यद्यपि समान स्वरूप वाले व्यञ्जन 'र' और 'स' दूसरी बार आये हैं, किन्तु उसी क्रम से नहीं आये हैं 'रसः' में पहले है 'र' और बाद में 'स' है किन्तु सरः में ठीक इसके विपरीत क्रम से वर्ण आये हैं। अतः यहाँ छेकानुप्रास नहीं हो सकता है।

उदाहरण

आदाय.................................पवनः ।

अर्थ—"मौलसिरी (बकुल) की गन्ध को लेकर, पद-पद पर भ्रमर समूह को मदान्ध करता हुआ, कावेरी के जल के कणों से युक्त होने के कारण पवित्र पवन धीरे-धीरे चला आ रहा है।"

अत्र गन्धानन्धीति..................छेकानुप्रासः ।।

अर्थ—"इस श्लोक में 'गन्धानन्धी" में संयुक्त 'न' और 'ध' की उसी क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है, अतः इसे हम छेकानुप्रास का उदाहरण कह सकते हैं। इसी श्लोक में 'कावेरी वारि' यहाँ असंयुक्त 'व' और 'र' की तथा "पावनः पवनः" में तीन व्यञ्जनों की एक ही बार समान आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ भी छेकानुप्रास है। छेक का शब्दार्थ है 'चतुरपुरुष' उनके प्रयोग के योग्य होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं।"

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ।। [सा० द०, १०।४]

अनुवाद—"अनेक व्यञ्जनों की एक ही बार एक ही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही क्रम से नहीं) समता होने पर अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर अथवा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम दोनों से) अनेक बार वर्णों की आवृत्ति होने पर या एक ही अक्षर की एक ही बार आवृत्ति होने पर, या एक ही वर्ण की अनेकशः आवृत्ति होने पर 'वृत्यनुप्रास' नामक शब्दालंकार होता है।

एकधा स्वरूपतएव,......................सकृदपि ।।

अनुवाद—एक बार स्वरूप से आवृत्ति होने पर, क्रम से नहीं। अनेक बार स्वरूप और क्रम दोनों से व्यञ्जनों की आवृत्ति होने पर। 'सकृदपि' में अपि शब्द से अनेक बार (असकृत्) का भी ज्ञान होता है।

उदाहरण

प्रसन्नता के मद से मतवाली यौवनवती स्त्रियों के सुखोपभोग के श्रम से उत्पन्न स्वेद उसके नष्ट करने में चतुर प्रभातकाल की वायु, विकसित कमल की गन्ध से भ्रमर पंक्ति को सुरभित और मोहित करती हुई मकरन्द से पूर्ण वायु चल रही है।

इस उदाहरण में अनेक वर्णों की एक बार और अनेक बार आवृत्ति हुई है अतः वृत्यनुप्रास अलंकार है।

वृत्ति

रस विषय..................................वृत्यनुप्रासः ।।

अनुवाद—"वृत्ति एक ऐसी रचना है जहाँ रसाभिव्यंजन का प्राधान्य रहता है अर्थात् रस विषयक अनुकूल व्यापार से पूर्ण रचना को वृत्ति कहते हैं। उसके अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट विन्यास को 'वृत्यनुप्रास' कहते हैं।

यमकम्

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।। [सा० द०, १०।८]

अनुवाद—अर्थवान् तथा परस्पर भिन्न अर्थ वाले स्वर व्यंजन समूह की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक (अलंकार) कहते हैं । आशय यह है कि वर्ण समूह की आवृत्ति का नाम यमक है ।

अत्र द्वयोरपि..................................सूचितम् ।।

अनुवाद—इस यमक नामक अलङ्कार में दोनों वर्ण समूह कहीं सार्थक और कहीं निरर्थक कहीं एक अंश के या सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त वर्ण समूह का भिन्नार्थक होना आवश्यक है । इसीलिए लक्षण में 'सत्यर्थे' कहा गया है । उसी क्रम से 'दमो मोदः' को यमक के उदाहरणों से पृथक् किया गया है अर्थात् यमक का उदाहरण स्वीकार नहीं किया गया है ।

उदाहरण

कुसुमजन्म..................................वनस्थलीम् ।।

[रघुवंश महाकाव्यम्, ६।२६]

अर्थ—सर्वप्रथम पुष्प विकसित हुए, फिर नूतन पल्लव प्रस्फुटित हुए, फिर भ्रमरों की गुंजार होने लगी और उसके बाद कोयल की कूक भी सुनाई देने लगी । इस क्रम से धीरे-धीरे वनस्थली में वसन्त का आविर्भाव हुआ ।

व्याख्या—इस पद के चतुर्थ चरण में '**द्रुमवती मवतीर्य**' पदों की आवृत्ति हुई है । इसमें 'वृक्षावाली' तथा 'आविर्भाव' ये क्रमशः आवृत्त पदों के अर्थ हैं अतः यहाँ यमक अलङ्कार है ।

अथवा

द्वितीय उदाहण

क्रान्तं रुचा..................................षट्पदाभिः ।।

[शिशुपालवधम्, ४।३]

अर्थ—इस श्लोक में रैवतक पर्वत का वर्णन है—"नूतन प्रभा के समूह से पूर्ण मणियों के प्रकाश को पर्वत की स्वर्णिम चोटियों पर विकीर्ण कर, इन्द्र नील-मणि की श्यामलता से मनोहर तथा मकरन्द पूर्ण लताओं से व्याप्त होने के कारण भ्रमर पंक्ति को आमन्त्रित करने वाले पर्वत को देखा ।

व्याख्या—इस श्लोक में 'नवप्रभाजा' तथा 'लताभिराम' पदों की भिन्नार्थक पुनरुक्ति है अतः यहाँ यमक अलंकार है ।

श्लेषः

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ।
श्लेषाद्विभक्तवचनभाषाणामष्टधा च सः ।
पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ।।

अनुवाद—श्लेष युक्त पदों से अनेक अर्थों का कथन श्लेषालङ्कार कहा जाता है । वह वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा इनके श्लिष्ट होने के कारण वर्णश्लेष, प्रत्ययश्लेष आदि भेदों से यह श्लेषालंकार आठ प्रकार का होता है । पद का उदाहरण दृष्टव्य है—

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषित निःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ।।

अर्थ—"हे देव ! पुष्ट सुवर्ण के पात्र, भूषिण से शोभित समस्त परिजन, शोभायमान हस्ति समुदाय से व्याप्त आपका यह गृह बच्चों के आर्तस्वर का पात्र, भूमि पर सोने वाले समस्त परिवारी जन, सैकड़ों बिल के रेणु से युक्त मेरे गृह के समान है, अतः मेरा और आपका घर समान है । अर्थात् दोनों की उपमा समान है ।"

इस उदाहरण में 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' आदि पदों में श्लेष है । अतः यह श्लोक पद श्लेष का उदाहरण है ।

---

२२. काव्यप्रबन्धेष्वर्थालङ्कारविशेषः

कारिका

अर्थस्यालङ्कारा.........................निःशेषा ।।

(रुद्रट कृत काव्यलङ्कार ७।१०)

अनुवाद—अर्थालङ्कार—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष हैं। अन्य सम्पूर्ण अलङ्कार इन्हीं के विशेष रूप हैं।

व्याख्या—रुद्रट ने मुख्यतः अर्थालङ्कार वास्तवादि चार स्वीकार किये हैं। तथा अन्य रूपकादि अलङ्कारों को इनका विशिष्ट रूप माना है। "जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे उसे 'वास्तव' अलंकार कहते हैं—"**वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत्** ।" यह शेष उपमा आदि से भिन्न है तथा वह अर्थ की पुष्टि करने वाला, विपरीत प्रतीति से निवृत्ति कराने वाला है—**पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममन-तिशयमश्लेषम्** । (रु० क०, ७।१०) इसके "सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, और एकावली ये तेईस भेद होते हैं।"

वास्तव अलङ्कार

वास्तव अलङ्कार के भेदों में कुछ अलङ्कारों के लक्षण उदाहरण—

(१) सहोक्ति

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।।

[सा० द०, १०।५५]

अनुवाद—सह शब्दार्थ के कारण (बल से) जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो, वहाँ सहोक्ति अलंङ्कार होता है किन्तु इसके मूल में अतिशयोक्ति आवश्यक है। अतिशयोक्ति से रहित होने पर सहोक्ति अलङ्कार नहीं होता है।

लक्ष्मणेन समं.........................अलंकार ।।

अनुवाद—लक्ष्मण के साथ राम गहन जंगल को गये। इस वाक्य में सार्थक समं शब्द के प्रयोग होने पर भी यहाँ अतिशयोक्ति मूल में नहीं है, अतः सहोक्ति भी नहीं है।

उदाहरण— पुरोपनीतं नृप रामणीयकं
द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं
परैतिकार्श्यं यशसा समं वपुः ॥

अनुवाद—"हे राजन् ! पहले आपका यह शरीर ब्राह्मणों के द्वारा भोजन करने के बाद शेष अन्न से परिपुष्ट होकर मनोहर था, वही शरीर आज जङ्गली फल-मूलों के आहार से अत्यन्त दुर्बल होता जा रहा है और साथ-साथ यश को भी क्षीण कर रहा है ।

व्याख्या—इस श्लोक में सहोक्ति अलंकार है क्योंकि 'समम' के मूल में यह शरीर फलों को खाकर अत्यन्त दुर्बल हो रहा है साथ ही यश को भो क्षीण कर रहा है । अतिशयोक्ति की मूलभूत भावना विद्यमान है । अतः यहाँ सहोक्ति अलंकार है ।

२. दीपकम्

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

[सा० द०, १०।४९]

अनुवाद—"जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में परस्पर एक धर्म सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक (उल्लिखित) हो वहाँ दीपक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

बलावलेपादधुनाऽपि................भवान्तरेष्वपि ।

[शिशुपाल वधम्, १।७२]

अनुवाद—नारद जी श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि "वह विजयाभिलाषी शिशुपाल आज भी संसार को पहले की तरह सता रहा है । पतिव्रता पत्नी और निश्चल प्रकृति दूसरे जन्म में भी उसी मनुष्य को प्राप्त होती है ।"

अत्र प्रस्तुताया......................क्रियासम्बन्धः ॥

अनुवाद—"यहाँ प्रस्तुत निश्चल प्रकृति तथा अप्रस्तुत सती नारी का एक अनुसरण रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध वणित है ।" अतः इस श्लोक में प्रस्तुत अप्रस्तुत का एक धर्म वर्णित है अतः दीपक अलङ्कार है ।

३. परिकर

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ॥ [सा० द०, १०।५७]

अनुवाद—"कहे हुए विशेषण या विशेषणों से यदि किसी विशेष अभिप्राय का बोध होता हो तो परिकरालङ्कार होता है ।" इस अलंकार में साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है ।

जैसे—महौजसो मानधना धनार्चिताः............सभीहितुम् ॥

[किरातार्जुनीयम् १।१९]

अर्थ—दुर्योधन की सेना के धनुर्धारी जो महाबलिष्ठ हैं, जो मान के धनी हैं, जो द्रव्यादि से सत्कृत हैं, युद्ध में कीर्त्ति प्राप्त हैं, जो स्वार्थी (घूसखोरी में संपृक्त नहीं हैं) नहीं हैं, और अवसर पर अपनी-अपनी ढपली नहीं बजाते हैं, ऐसे उसके योद्धा अपने प्राणों से उसके कल्याण की निरन्तर कामना करते हैं ।

व्याख्या—इस श्लोक में दुर्योधन के योद्धाओं का साभिप्राय विशेषणों से वर्णन है, अतः यहाँ परिकर अलङ्कार है ।

४. कारणमाला

परं परं प्रति यदा पूर्व पूर्वस्य हेतुता
तदा कारणमाला स्यात—

[सा० द० १०।७६]

अनुवाद—परवर्त्ती के प्रति जहाँ पूर्ववर्त्ती वस्तु हेतु होती जाय वहाँ कारणमाला अलंकार होता है। अर्थात् जहाँ उत्तरोत्तर कहे गये पदार्थों के प्रति पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होते हैं, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है ।

जैसे—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं..................नृपश्रियः ।।

[किरातार्जुनीयम् २।१४]

अनुवाद—"पुरुषार्थ रहित मनुष्य को विपत्तियाँ आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों से आक्रान्त होने पर उसकी भावी उन्नति रुक जाती है । तदनन्तर उसका गौरव नष्ट हो जाता है । गौरव नष्ट होने पर राज्यश्री के लिए कोई स्थान नहीं रहता, जिसका कि वह आश्रय ग्रहण कर सके ।"

व्याख्या—इस श्लोक में उत्तारोत्तर वर्णित तत्व का पूर्ववर्ती कारण सिद्ध हो रहा है, अतः कारणमाला अलंकार है ।

अत्र पूर्व पूर्वस्या............ऽलङ्कारः—मल्लिनाथः ।

पुरुषार्थ की हीनता विपत्तियों की कारण हैं, विपत्तियाँ भावी उन्नति की बाधक कारण हैं । उन्नति के अभाव में गौरव नष्ट, गौरव के नष्ट होने पर राज्यश्री नहीं रहती । यहाँ पूर्ववर्त्ती अविक्रमादि उत्तरवर्त्ती विपदादियों के प्रति कारण हैं अतः कारणमाला नामक अलङ्कार है यह मल्लिनाथ का कथन है ।

५. एकावली

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ।।

[सा० द० १०।७८]

अनुवाद--पूर्व पूर्व के प्रति अगले अगले को विशेषण के रूप में स्थित करें या उसका निषेध कर अलग करें, यह दो प्रकार का एकावली अलंकार होता है। आशय यह है कि एकावली अलंकार दो प्रकार का होता है, प्रथम वह जहाँ पहला पद विशेष्य और उत्तरवर्त्ती पद विशेषण होता है। द्वितीय एकावली अलंकार वह होता है, जहाँ पूर्वपद उत्तर पद का विशेषण बन जाता है।

जैसे—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं..............सत्क्रिया ।।

[किरातार्जुनीयम् १।१२]

अनुवाद—साम, दाम, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की राजाओं की नीति होती है। इनमें साम का प्रयोग जो सुयोधन करता है वह दान के बिना नहीं करता और जो वह प्रचुर दान करता है, वह सत्कारपूर्वक करता है तथा उसका विशेष सत्कार गुण के बिना नहीं होता। आशय यह है कि वह गुणवानों का ही सत्कार करता है।

अत्रोत्तरोत्तरस्य......................ल्यलङ्कारः ।।

[मल्लिनाथः]

व्याख्या--यहाँ उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व के विशेषण के रूप में स्थापित करने के कारण एकावली अलंकार है।

औपम्य के प्रभेद

रुद्रट के औपम्य अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—"जिसमें वक्ता, किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे उसमें औपम्य अलङ्कार होता है—"

सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।।

[रुद्रट काव्यालङ्कार ८।१]

रुद्रट के औपम्य अलङ्कारान्तर्गत ये अलङ्कार आते हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण नामक इक्कीस अलंकार हैं।

१. उपमा

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः ।
सा पूर्णा........................चन्द्रादि ।।

[सा० द०, १०।१४,१५,१७]

अनुवाद—'एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं।'

उपमा के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं कि—जहाँ उपमा के "सामान्य धर्म, उपमावाचक (औपम्यवाची) शब्द, उपमेय और उपमान ये चारों यदि वाच्य हों, अर्थात् शब्द विशेष से प्रतिपादित हों, तो उसे **पूर्णोपमा** कहते हैं।

उनमें से यदि सामान्य धर्म आदि किसी एक के अथवा दो या तीन के न होने पर लुप्तोपमा होती है। उसे भी उपमा कहते हैं। दो पदार्थों की सादृश्यता के आधारभूत, गुण, क्रिया आदि को सामान्य धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। जैसे—मनोज्ञत्व, रमणीयत्व आदि साधारण धर्म होते हैं। उपमा वाचक इव, यथा, तुल्य, सम, वत, सदृश आदि वाचक शब्द कहलाते हैं। वर्णनीय मुख आदि उपमेय कहलाते हैं तथा सौन्दर्य निरूपक चन्द्र, कमलादिक उपमान कहलाते हैं।

पूर्णोपमा का उदाहरण—

गम्भीर गर्जितरवाः..................नगरं मदीयाः ।

[मुद्राराक्षस ४।१७]

अनुवाद—"गम्भीर गर्जन के समान शब्द करने वाले और निरन्तर धारावाही वर्षा की तरह अपने मदजल से मिले हुए जल बिन्दुओं को फेंकते हुए हमारे गजसमूह विन्ध्य पर्वत को निकले हुए जलवाली मेघमाला की तरह पुष्पपुर को घेर लेंगे।"

व्याख्या—इस श्लोक में गज और बादलों में उपमान और उपमेय तथा औपम्यवाचक इव आदि शब्द, गम्भीर गर्जन आदि हाथी और बादलों का सामान्य धर्म का यहाँ वर्णन होने के कारण पूर्णोपमा अलङ्कार है।

लुप्तोपमा

जैसे—

उपकारक..................................साधनम् ।

[किरातार्जुनीयम् २।४३]

अनुवाद—"भावी अत्यन्त उपकारक तथा प्रचुर मात्रा में कर्मफल को उत्पन्न करने वाली शान्ति के समान स्वयं अविनाशी और शत्रुओं का विनाशकारी कोई अन्य साधन नहीं है।"

व्याख्या—'तितिक्षा के समान' में उपमेय का कथन न होने के कारण यहाँ लुप्तोपमा अलङ्कार है।

२. उत्प्रेक्षा

भवेत् संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा—
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।

[सा० द० १०।४०-४१]

अनुवाद—किसी प्रस्तुत पदार्थ की अप्रस्तुत के रूप में (कविकल्पनाजन्य) संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। अर्थात् जहाँ उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। वह उत्प्रेक्षा वाच्य और प्रतीयमान दो प्रकार की होती है। एक वह जहाँ वाच्य-इवादि का प्रयोग रहता है तथा दूसरी वह जिसमें उत्प्रेक्षा बोधक शब्दों का अभाव रहता है। आशय यह है कि उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है—"प्रथम उत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं। एक वाच्योत्प्रेक्षा, दूसरी प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। जहाँ 'इव' आदिक उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहाँ नहीं होता वहाँ प्रतीयमान होती है।

उत्प्रेक्षा बोधक शब्द दण्डी के अनुसार निम्न हैं—

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपितादृशः॥

अर्थात् "मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनं, इति, एवं, आदि शब्दों से उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना होती है। इसी प्रकार इव शब्द भी उत्प्रेक्षाव्यञ्जक है।"

उत्प्रेक्षा के उदाहरण—

व्यूढोरस्को.................................क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।

[रघुवंशमहाकाव्यम् १।१३]

अनुवाद—राजा दिलीप के रूप सौन्दर्य का वर्णन है—

"उनकी चौड़ी छाती, साँड़ के समान ऊँचे और भारी कंधे, शालवृक्ष के समान लम्बी भुजाएँ और उनका अपार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानो क्षत्रियों का धर्म (वीरत्व) उनके शरीर में यह जान कर आ डटा हो कि मेरा कार्य इस शरीर से अवश्य पूर्ण होगा।"

व्याख्या—तृतीय और चतुर्थ चरण में स्पष्ट उत्प्रेक्षा है तथा उत्प्रेक्षा बोधक शब्द 'इव' भी विद्यमान है। इव से सम्भावना स्पष्ट हो रही है। अतः यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा है।

द्वितीय उदाहरण—

अनुद्धताकारतया...........कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन॥

[किरातार्जुनीयम् ३।३]

अनुवाद—व्यास जी का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि "उनका आकार शान्त था, जिससे उनके अन्तःकरण का भाव स्पष्टतः झलक रहा था, सौम्यता और विश्वासपूर्ण अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता था (मानो) इनसे कभी सम्भाषण हो चुका हो।

कृता.................................स्थितमित्यर्थः।

'कर लिया संभाषण जिससे उसकी तरह' यह उत्प्रेक्षा है। दृष्टिविशेष से ही सम्भाषण किये हुए की तरह स्थित थे, यह अर्थ है।

३. रूपकम्

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।
अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ॥ [काव्यप्रकाश १०।६]

अनुवाद—"उपमान और उपमेय का जो अभेदारोप है, वह रूपक अलङ्कार कहलाता है। अर्थात् जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट (अनपह्नुत) है, उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना (रूपक) है।" इस प्रकार उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति को रूपक कहते हैं।

जैसे—

उल्लंघयन्......................लभतां विनाशम् ।

[मुद्राराक्षस १।१०]

"नन्द वंशरूपी कानन के लिए अग्नि के समान अतिप्रज्वलित मेरे क्रोध के प्रताप का उल्लंघन करता हुआ, अपने तथा दूसरे की अन्तिम दशा के विचार से रहित कौन-सा मनुष्य पतंगे की भाँति मरना चाहता है।"

व्याख्या—इस श्लोक में नन्द कुल पर कानन के आरोप तथा क्रोध पर अग्नि के आरोप के कारण रूपक अलङ्कार है।

४. समासोक्तिः

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंग विशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥

[सा० द० १०।५६–५७]

अनुवाद—जिस वाक्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप वर्णित हो वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।

जैसे—

स्पृशन् सशङ्क......................वधूरहस्करः ॥

[शिशुपालवधम् १।५८]

अनुवाद—"सूर्य ग्रीष्म ऋतु में शुद्धाचरण में स्थित नायक के समान असमग्रपाति अपनी किरणों से (हाथों से) निःशङ्क स्पर्श करता हुआ रावण की स्त्रियों को शीतल स्वेदबिन्दु रूपी मोतियों से अलंकृत करता था।"

अत्र प्रस्तुतसूर्य......................रलङ्कार ॥

व्याख्या—इस श्लोक में प्रस्तुत सूर्य के विशेषणों की समता के कारण अप्रस्तुत प्रसाधक नर्मसचिव नायक के अर्थ की प्रतीति हो रही है अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है।

५. अर्थान्तरन्यास

सामान्यं वा विशेषरण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥

[सा० द० १०।६१–६२]

अनुवाद—जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का अथवा कारण से कार्य का, या कार्य से कारण का साधर्म्य के द्वारा अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन होता हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह अर्थान्तरन्यास साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर आठ प्रकार का होता है।

जैसे—

कृतप्रणामस्य..........................हितैषिणः ।

[किरातार्जुनीयम् १।२]

अनुवाद—उस वनेचर ने सबसे पहले युधिष्ठिर को प्रणाम किया। शत्रुओं के द्वारा अपहृत वसुन्धरा की यथार्थ स्थिति के वर्णन में उसके मन में किसी प्रकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि किसी के कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य अनावश्यक प्रिय और सुन्दर वाणी नहीं बोलते हैं।"

वृत्ति

अत्र विशेष..................................समर्थयते ॥

यहाँ विशेष रूप अर्थ सामान्य अर्थान्तर के द्वारा समर्थित है।

अन्य उदाहरण—

स किं सखा..................................सर्वसंपदः ॥

[किरातार्जुनीयम् १।५]

अनुवाद—जो मित्र स्वामी को अच्छी सलाह नहीं देता वह मित्र ही क्या है? [अर्थात् वह मित्र होने के योग्य नहीं है क्योंकि मित्र का कर्त्तव्य सत्पथ का प्रदर्शन है] और वह स्वामी, जो हितकारी बात के सुनने में कल्याणेच्छुक की उपेक्षा करता है, वह स्वामी होने योग्य नहीं है। क्योंकि जब स्वामी और सचिव आदि परस्पर अनुराग करते हैं; एक दूसरे के विपरीत नहीं जाते, उस स्थिति में सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ उनकी सहचारिणी रहती हैं।

वृत्ति

अत्रैवं..........................अलङ्कारः-मल्लिनाथः ।

व्याख्या—यहाँ इस श्लोक में राजा के मन्त्री का हितकारी उपदेश देना, तथा राजा का हितोपदेष्टा की बात को न सुनना—निन्दा, सामर्थ्य से सिद्ध, एक मति राजा

और मन्त्री के होने पर निर्दिष्ट सम्पूर्ण सम्पत्ति की सिद्धि रूप कार्य के द्वारा समर्थन होने के कारण—कार्य से कारण—समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार है यह टीकाकार मल्लिनाथ का मत है।

अतिशय के प्रभेद

रुद्रट के चार अलङ्कारों में एक 'अतिशय' नामक अलङ्कार भी है। उसका लक्षण—"जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम कहीं प्रसिद्धि के बाध से लोक का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है; वहाँ अतिशय अलङ्कार होता है।

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥

[रुद्रट काव्यालङ्कार ६।१]

इस 'अतिशय' के अनेक भेद हैं; जैसे—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु नामक बारह भेद हैं।

(१) विभावना

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता॥

[सा० द० १०।६६–६७]

अनुवाद—हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो वहाँ विभावना नामक अलङ्कार होता है। वह विभावना अलङ्कार जिसमें निमित्त उक्त हो, तथा जिसमें निमित्त अनुक्त हो, इस प्रकार दो भेद वाला होता है।

आशय यह है कि "बिना कारण के जो कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है, वहाँ कोई न कोई दूसरा कारण अवश्य रहता है। वह कभी उक्त होता है और कभी अनुक्त।"

उदाहरण—

असंभृतं...............................वयः प्रपेदे।

[कुमारसम्भव १।३१]

अनुवाद—"इस प्रकार क्रमशः शनैः शनैः उनकी बाल्यावस्था व्यतीत हो गई और उनके शरीर में वह यौवन स्फुटित हुआ जो शरीर-लता का स्वाभाविक शृंगार है, जो मदिरा के बिना ही मन को मत्त बना देता है और जो कामदेव का बिना फूलों वाला बाण है।"

वृत्ति

अत्र द्वितीयपाद..................विभावनालङ्कारः ।

[मल्लिनाथः]

व्याख्या—इस श्लोक के द्वितीय चरण में मदिरा रूप कारण का अभाव होने पर भी उसके कार्य मत्त बना देने का वर्णन है, अतः इस श्लोक में कारण के बिना भी कार्य का वर्णन होने से विभावना अलङ्कार है ।

जैसे—

रणद्भिराघट्टनया.........................मुहुर्मुहुः ।

[शिशुपाल वधम् १।१०]

अनुवाद—"भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भवन में बैठे हुए ही वायु के आघात से पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाले श्रुतियों के समूह एवं 'सारेगम' रूप सात स्वरों से जिसमें तीन ग्राम (षड्ज, मध्यम और गान्धार) और इक्कीस मूर्च्छनाएँ स्पष्ट हो रही हैं ऐसी महती नाम की वीणा को बजाते हुए ऋषि नारद को देखा ।"

वृत्ति

पुंव्यापार.........................विभावनाव्यज्यते ।

[मल्लिनाथः]

व्याख्या—इस श्लोक में पुरुष के अंगुलि संचालनादि व्यापार-कारण के बिना भी मूर्च्छना आदि कार्यों की उत्पत्ति के द्योतन के कारण—विभावना व्यंजित हो रही है । ऐसा मल्लिनाथ का कथन है ।

२. तद्गुणः

"तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।"

[सा० द० १०।९०]

अनुवाद—"अपने गुणों का त्यागकर अत्यन्त उत्कृष्ट के गुणों को ग्रहण करने में तद्गुण अलङ्कार होता है ।" यहाँ गुण से आशय रंग, रूप और गन्ध से है ।

जैसे—

अजस्त्रमा.................................मालया ।

[शिशुपालवधम् १।९]

अनुवाद—"बार-बार वीणा को बजाने के कारण तार के संघर्ष से अत्यन्त रक्तिम वर्ण के नख की उज्ज्वल कान्ति से मानों मंगे से जिसका आधा अंश पूर्ण है, ऐसे स्वच्छ स्फटिक मणि की जयमाला से शोभायमान नारद को श्रीकृष्ण ने देखा ।" इस श्लोक में वर्णित—स्फटिक की अक्षमाला अपने श्वेत गुण का परित्याग कर नख की रक्तिम वर्ण की किरणों के लाल गुण को ग्रहण करती है; अतः यहाँ तद्गुण अलङ्कार है ।

श्लेष के प्रभेद

रुद्रट का चौथा अलंकार श्लेष है। श्लेष का लक्षण है—"जहाँ अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध कराता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है"—

> **यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।**
> **अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥**

[रुद्रट काव्यालंकार १०।१]

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्व, विरोधाभास नामक दश शुद्ध श्लेष के भेद हैं।

१. अधिकम्

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। [सा० द० १०।७२]

अनुवाद—"आधार और आधेय में से किसी एक के अधिक होने पर अधिकालंकार होता है।"

आधेय की अधिकता का उदाहरण—

युगान्तकाल..मुदः।

[शिशुपालवधम् १।२३]

अनुवाद—"प्रलयकाल में अपने शरीर में समग्र जीवों को आत्मसात् कर लेने वाले कैटभ नामक राक्षस के हन्ता भगवान् श्रीकृष्ण के जिस शरीर में सम्पूर्ण विश्व विस्तार के साथ समाविष्ट हो गया था, भगवान् के उसी शरीर में नारद के आगमन से उत्पन्न हर्ष समा नहीं सका।"

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण की व्यापकता तथा विशालता का वर्णन है किन्तु नारद के आगमन से उत्पन्न हर्ष उसमें समा नहीं सका अतः अधिक अलंकार है।

२. विरोधः

> **जातिश्चतुर्भिजात्याद्यैं गुणोगुणादिभिस्त्रिभिः।**
> **क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।**
> **विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौदशाकृतिः॥**

[सा० द० १०।६८–६९]

अर्थ—"जाति जहाँ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ विरुद्ध भासित हो; गुण, गुणादिक तीन के साथ, क्रिया, क्रिया और द्रव्य के साथ; द्रव्य, द्रव्य के साथ विरुद्ध भासित हो वहाँ विरोधालङ्कार होता है। यह अलंकार दस प्रकार का होता है।" इसको विरोधाभास अलङ्कार भी कहते हैं। इसमें दो वस्तुओं में परस्पर वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध के आभास का वर्णन होता है।

जैसे—

लघूकरिष्यन्नति .... त्वया ।

[शिशुपालवधम् १।३६]

अर्थ—नारद भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि हे भगवान् आप इस संसार में राक्षसों के भार से पीड़ित इस टूटती हुई वसुधा के भार को हलका करने के लिए स्वर्ग से अवतरित हुए थे, किन्तु सम्प्रति तीनों भुवनों को अपने उदर में धारणकर्त्ता आप इस वसुधा को और भी अधिक भारवती बना रहे हैं।

लघुकर्त्ता .... अलङ्कारः।

[मल्लिनाथः]

व्याख्या—मल्लिनाथ इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार की संसिद्धि करते हुए कहते हैं कि "श्रीकृष्ण जो कि भार के लघुकर्त्ता थे वही आज इस पृथ्वी को गुरु करते हैं। अर्थात् अपने भार से पृथ्वी को गौरवशाली बना रहे हैं। इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है। अतः विरोधाभास अलंकार है।

२३. काव्यप्रबन्धेषुभयालंङ्कारयोगः

१. संसृष्टिः

लक्षण—(२०७) **सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिहस्थितिः ।**

[का० प्र० १०।१३९]

अर्थ—'संसृष्टि' अलंकार वह है जहाँ उपर्युक्त विभिन्न अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति होती है ।

भावार्थ—काव्यप्रकाश आदि लक्षण ग्रन्थों में जिनका स्वरूप वर्णित है ऐसे शब्दालंकार एवं अर्थालङ्कारों का स्वतन्त्र रूप से एक स्थान पर शब्द रूप काव्य भाग में, अर्थ के विषय या शब्द और अर्थ दोनों में ही स्थिति होती है एक वस्तु में अनेक अलङ्कारों का सम्बन्ध होना संसृष्टि है ।

जैसे—

निवर्त्य सोऽनु.................................**चक्रिणः ॥**

[शिशुपालवध १।११]

अर्थ—"सर्वार्थद्रष्टा महर्षि नारद स्वर्ग से पीछे आने वाले प्रणाम किये हुए देवताओं को लौटाकर दैत्यों का विनाश करने वाले श्रीकृष्ण के इन्द्र भवन तुल्य सुन्दर भवन को प्राप्त हुए ।"

व्याख्या—इस श्लोक में छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास की संसृष्टि है (मल्लिनाथ) । क्योंकि छेकानुप्रास में अनेक व्यञ्जनों की एक बार समानता होती है तथा वृत्यनुप्रास में एक या अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार सादृश्य आवृत्ति होती है । इस उदाहरण में न, त, स, द, च आदि व्यञ्जनों की एक बार तथा अनेक बार आवृत्ति है, अतः छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास की यहाँ संसृष्टि है ।

२. सङ्करः

लक्षण:—(२०८) "**अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।**

[का० प्र० १०।१४०]

अर्थ—"अपने स्वरूप में निरपेक्षभाव से पर्यवसित न होने वाले शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार का अङ्ग तथा अङ्गी रूप से स्थित होना संकर अलङ्कार है ।

भावार्थ—उपर्युक्त अलङ्कार "जहाँ अपने स्वरूप में स्वतन्त्र रूप से स्थित नहीं होते तथा परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को धारण कर लेते हैं वह उनके स्वरूप से संकीर्ण (मिश्रित Mixed) हो जाने के कारण संकर कहलाता है ।"

जैसे—

करोति...................................तिरस्क्रिया। [शिशु० १।३६]

अर्थ—महर्षि नारद श्रीकृष्ण से कहते हैं कि हे श्रीकृष्ण ! मृगादि के समान अत्यन्त निकृष्ट कंस आदि राजाओं के वध करने के कारण जो मनुष्य आपका स्तवन करते हैं। हे हरे ! वह हिरण्याक्ष आदि असुर-रूपी-हाथियों के हन्ता आपकी स्तुति न होकर (वह तो) निन्दा ही है।

वृत्ति

अत्र...कीर्त्यते।

भावार्थ—यहाँ असुर रूपी हाथियों तथा श्रीकृष्ण रूपी सिंह आदि में श्लिष्ट परम्परित रूपक है। मृगों की तरह में उपमा है। अतः उपमा और रूपक में अङ्गाङ्गिभाव का संकर है। ऐसा मल्लिनाथ टीकाकार का मत है।

समीक्षा

अलङ्कार स्वरूप

अलङ्कारों का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य सौन्दर्य के उत्कर्ष करने वाले तत्व का नाम अलंकार है। "अलंकार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भाव में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।" वाणी के भूषण हैं इसीलिए इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'अलंकरोतीति अलंकारः'—जो अलंकृत करे वह अलंकार है। अलंकार रस के पोषक भी हैं। मम्मट अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ [का० प्र० ८।६७]

अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं और वे रस के उपकारक हैं।

कविराज विश्वनाथ ने अलंकार का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"जिस प्रकार अंगदादि (केयूर) आभूषण शरीर के लिए शोभातिशय के जनक होते हुए भी आत्मा का उत्कर्ष बढ़ाते हैं उसी प्रकार उपमादि काव्य के अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हुए काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ [सा० द० १०।१]

विश्वनाथ भी अलंकारों का सम्बन्ध रस से जोड़ते हैं और उन्हें रसोपकारक रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे काव्य की आत्मा रस को मानते हैं, अतः उनका यह विचार उचित भी है।

संस्कृत साहित्य में अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों को छोड़कर अधिकांश रस-ध्वनिवादी आचार्य अलंकारों को शब्दार्थ का अनित्य धर्म स्वीकार करते हैं, जैसे कि कुण्डलादि शरीर के अनित्य धर्म हैं—

अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् । [ध्वन्यालोक २।६]

अलंकारों के स्वरूप एवं महत्व के सम्बन्ध में हिन्दी के एक कवि के विचार दर्शनीय हैं—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों में कृपण जड़ता में बंध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

अलंकार के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं में अन्तर है। अलंकारवादी आचार्य काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्य को अलंकार मानते हैं और कुछ अलंकारवादी काव्य के प्राणभूत तत्व को अलंकार कहते हैं। ये आचार्य काव्य की आत्मा का पद अलंकारों को देते हैं। आधुनिक काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अलंकार वर्णन की सुन्दर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली है।

निश्चय ही अलंकारों का अपना महत्व है। अलंकार अर्थ-सौन्दर्य के उत्कर्ष करने वाले हैं, किन्तु उनका महत्व रस, ध्वनि, गुण, रीति और औचित्य के अनन्तर ही है।

अलङ्कार के भेद

अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—

(१) **शब्दालंकार**—शब्दालंकार शब्द विशेष के द्वारा अपना चमत्कार प्रदर्शित करते हैं, शब्द विशेष के परिवर्तन से शब्दालंकार का अस्तित्व प्रभावित होता है, शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि महत्वपूर्ण हैं।

(२) **अर्थालङ्कार**—जो अलङ्कार काव्य में अर्थ के द्वारा चमत्कार-सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं, वे अर्थालङ्कार कहलाते हैं। अर्थालङ्कारों में शब्द का पर्यायवाची शब्द का प्रयोग हो जाने पर अर्थ में कभी-कभी अन्तर भी नहीं आता है।

(३) **उभयालंकार**—जो अलंकार शब्द और अर्थ के आश्रित रहकर काव्य को चमत्कृत करते हैं, उन्हें उभयालंकार कहते हैं। इनको शब्दार्थालंकार या मिश्रितालंकार भी कहा जाता है।

